OM

LECTURES ON THE RIGVEDA

CONTAINING A DISCUSSION

ON THE QUESTIONS

OF

1. The Rigveda's being A recension, and 2. About the attribution of its authorship.

PART I

BY

BHAGWADDATTA, B. A.,

PROFESSOR OF VEDIC THEOLOGY AND SANSKRIT AND SUPERINTENDENT OF THE RESEARCH DEPARTMENT

D.A.V. COLLEGE LAHORE,

SEPTEMBER 1920

First Edition 1000 Copies.

Price 3 Shillings,

ओ३म्

दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत-ग्रन्थमाला ।

अनेक विद्वानों की सहायता से

भगवद्दत्त

संस्कृताध्यापक वा अध्यक्ष रीसर्च-विभाग

दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर द्वारा

50

सम्पादित ।

श्रीमद्दयानन्द महाविद्यालय संस्कृतग्रन्थमाला सं० २

ओ३म्

ऋग्वेद पर व्याख्यान

अर्थात्

ऋग्वेद शाखा है वा नहीं, वेद किसने बनाया? इत्यादि विषयों पर विचार।

प्रथम भाग

लेखक

भगवद्दत्त बी० ए०

संस्कृताध्यापक दयानन्द कालेज, लाहौर।

आर्य्य सम्वत् १९६०८५३०२०

विक्रम सं० १९७७ सन् १९२० ई०

दयानन्दाब्द ३७

प्रथमबार १००० प्रति] [मूल्य ।।) रु०

विद्याप्रकाश यन्त्रालय चङ्गड़ मुहल्ला लाहौर में छपा॥

Printed by Bhairo Prasada,
MANAGER VIDYA PRAKASHA PRESS LAHORE,
And Published by
THE RESEARCH DEPARTMENT D.A.V. COLLEGE, LAHORE.

The publications of this series can also be had of:—
Messrs Luzac & Co 46 Great Russel street
London W. C.

विषय-सूची ।

शाखा-प्रकरण ।

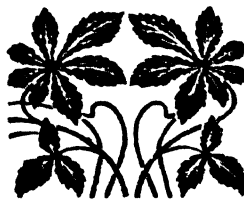
ऋग्वेद किस ने बनाया ?

शुद्धिपत्रम् ।

अतीव साधारण अशुद्धियां जो दृष्टि पड़ते ही ज्ञात हो जायें, यहां नहीं लिखी गईं ।

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
६,	६	यदिग्न०	यदाग्नि०
७,	१६	कणाव	कराव
१४,	१५	उकारश्चे०	उकारश्चे०
१५,	१४	aprika अपृक	aprikta अपृक्त

१६,१६	०विती	०विति
२१	काठक	काठक सं०
१७, ८	आये वैदिक	आयेओकारान्त वैदिक
६	आगे इति	आगे भी इति
२५, ८	क्कीथ	कीथ
२७,१६	गामयणादि	गामायणादि
३०, ७	गें	में
३२, ३	वातस्य	वात्स्य
३७,१५	मन्त्रकृत	मन्त्रकृत
४०, ७	की	का
४२,२२	मैत्रायिणी	मैत्रायणी
४७, ६	आप्ता	आप्तः
४८,१२	विद्यमान	विद्यमान
५६,१४	०न्वकाश	०न्वाकाश
६०,१३	स्थिती	स्थिति
६१,१२,१३	महीदास	महिदास
६२, १	पाणिनी ने भी	पाणिनि ने भी
	"द्रष्टं	"दृष्टं
१३	लम्बन्ध	सम्बन्ध
७२,१६	विपद	विशद
७८,२०	डियरी	डियटी



ओ३म्

भूमिका।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तञ्जनाँ अनु।

त्वं वरुण पश्यसि ॥ ऋ० १।५०।६ ॥

अर्थ—'हे पवित्रकारक, सर्वोत्तम जगदीश्वर! जिस विज्ञान प्रकाश से आप धारण करने वाले लोकों, और मनुष्यों को अच्छे प्रकार देखते हैं, उस विज्ञान के प्रकाश से मुझे भी संयुक्त कीजिये।' महाराज! आप ही मेरे गुरु और परमाध्यापक हो। आप ही से सब ज्ञान मिला है, सो हे दयानिधे! मेरे दोषों को दूर करके मुझे सत्ययुक्त और निर्मल-बुद्धि करदें, जिस से कि मैं आप की सत्य वाणी वेद का प्रचार पुनरपि संसार में करने के योग्य हो जाऊं।

२४ नवम्बर सन् १९१६ शुक्रवार के दिन, लाहौर आर्य्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर मैंने वेदों के शाखा विषय पर एक व्याख्यान दिया था। तदनन्तर इस विषय पर और भी सामग्री एकत्र करता रहा। पुनः, आश्विन सम्वत् १९७४ में 'ऋग्मन्त्रव्याख्या" की भूमिका में मैंने लिखा था—"शाखा विषय पर सुविस्तृत विचार, वेदमन्त्रों की गणना का प्रश्न और एक मन्त्र के कई वेदों में आने आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का लेख एक पृथक् पुस्तक में करना चाहता हूं। उस के लिये सामग्री एकत्रित की जा चुकी है।" तत्पश्चात् 'पञ्चपटलिका' की भूमिका के अन्त में भी इसी सम्बन्ध में एक वचन लिखा था। इन्हीं प्रतिज्ञाओं के अनुसार ईश्वर की अपार दया से मैं आज इस ग्रन्थ के प्रथम भाग को जनता के प्रति धरता हूं। इस प्रथम भाग में दो ही विषयों का वर्णन हो सका

है, और वह भी संक्षेपतः। तथापि मुख्य विचार मैंने यहां रख दिये हैं। ये विचार कैसे हैं ? इनकी परीक्षा पाठक स्वयं कर लेंगे।

शाखा विषय के सम्बन्ध में इतना और कहना है। आर्य्येतिहासानुसार जो ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मिलता है, सृष्टि के आरम्भ से ही ऋग् आदि वेद उपस्थित थे। वेदों में भी अनेक स्थलों पर यह साक्षी मिलती है कि वेद सदा से पृथक् २ रूप में विराजमान रहे हैं। इतनी पुरानी साक्षी की विद्यमानता में 'कोई मन्त्र-काल था, पश्चात् संहिता काल आया' अथवा 'व्यास ने चार वेद संहिताओं का विभाग किया' ऐसा कहना प्रमाणशून्य कल्पना का प्रकाश करना है। यह आदि ऋग्संहिता जो प्रजापति परमात्मा ने अग्नि ऋषि को दी और उस से ब्रह्मा ऋषि तक पहुंची, कहां चली गई ? इसी प्रश्न को लेकर मैंने शाखा विषय पर खोज आरम्भ की थी। उस का परिणाम ही इस ग्रन्थ का शाखा-प्रकरण है।

शाखा-प्रकरण के छप जाने के पश्चात् ही कॉलण्ड महाशय द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त जैमिनीय ब्राह्मण'* मुझे प्राप्त हो सका। उस में शाखा-प्रकरण के पूर्वपक्ष के दूसरे प्रमाण पर बड़ा प्रकाश डाला गया है। वह दूसरा प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत किया गया था। उस में आये शाकल शब्द पर ही सारा विवाद था। जैमिनीय ब्राह्मण ने सब विषय सरल कर दिया है। उस में यह पाठ है——

तस्यैष श्लोको—

यदस्य पूर्वम्, अपरं तदस्य, यद्वस्यापरं तद्वस्य पूर्वम्।
अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानामि यतरत्पुरस्तादिति॥
शाकलो ह गौपायनो यज्ञं मीमान इयाय॥१।२५८॥

---

*Das Jaiminiya-Brahmana in Auswahl, von W. Caland, Amsterdam. Johannes Muller. November 1919.

ऐतरेय ब्राह्मण में "यज्ञस्य" वचन के लिये "यज्ञगाथा" शब्द आया है और यहां "श्लोक"। प्रतीत होता है ये शब्द समानार्थक है। पुनः ऐतरेय में "विजानन्ति" पाठ है और जैमिनीय में "विजा-नामि"। सब से बढ़ कर द्रष्टव्य बात यह है कि जैमिनीय ब्राह्मण में इस वाक्य में आये 'शाकल' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। वहां कहा है "शाकलो ह गौपायनः" अर्थात् 'गोप की कुल में होने वाला शाकल'। इस से सायण का अर्थ तो सर्वथा असत्य हो गया। अब रहा 'शाकल गौपायन' पर विचार। ऋग्वेदीय साहित्य * में चार गौपायनों का वर्णन आता है। वे हैं (१) बन्धु (२) सुबन्धु (३) श्रुतबन्धु (४) विप्रबन्धु। देखो सर्वानुक्रमणी ५।२४ और १०।५७ पर। यदि जैमिनीय ब्राह्मण में इन्हीं में से किसी का वर्णन है तो शाखा-प्रकरण में लिखे गये अन्य सब प्रमाणों को दृष्टि में रखकर यहां भी शाकल, शाकल्य का शिष्य वा उसकी शिक्षा का मानने वाला होगा। हम इस वाक्य का अब अक्षरशः वह अर्थ नहीं करेंगे जो ग्रन्थ के अन्दर कर चुके हैं। वहां 'शाकल्य की शिक्षा' के स्थान में 'शाकल्य का शिष्य' समझना चाहिये। इस प्रमाण से हरिप्रसाद जी का पक्ष भी कोई पक्का नहीं होता। यदि वे अन्य सब प्रमाणों को छोड़ कर केवल इसी प्रमाण से 'शाकल' ऋषिविशेष का अस्तित्व सिद्ध करना चाहें तो उन्हें अवश्य ही गौपायनों की पूर्वोक्त चार ऋषियों से अधिकता सिद्ध करनी होगी।

सामवेदीय आर्षेयब्राह्मण २।१२६ में भी 'शाकलम्' पाठ आया है। वहां सायण ने भी 'शाकलनाम्ना ऋषिणा दृष्टम' अर्थ किया है। उसी भाव से ताण्ड्यब्राह्मण में 'शाकलं भवति' १३।३।९ कहा है। ऐसा कह कर अगले ही वाक्य में इसका अर्थ भी स्वयं खोल दिया है—

---

*तुलना करो ताण्ड्यब्राह्मण १३।१५।५॥

'एतेनवैशकलःपञ्चमेऽहनिमत्यातिष्ठत्पातीतिष्ठति शाकलेनतुष्टुवानः'

१३ । ३ । १० ॥

अर्थात् "अर्षा सोम" (साम १ । ६ । २ । ७ । ऋचा से शकल ऋषि ने अमुक यज्ञ में अमुक कर्म किया । अतः यह मन्त्र शाकल साम हुआ । यही शकल शाकल्य का पिता है । इस प्रमाण से भी शाकल शब्द से किसी ऋषि विशेष के निज नाम को समझना ठीक नहीं ।

वस्तुतः अन्तिम परिणाम यही है कि शाकलसंहिता, शाकल्य के पदपाठ से ही कहाई जाने लगी थी । शाकल कोई व्यक्ति हो वा न हो, उस के प्रवचन से इस ऋग्वेद को शाकलसंहिता कदापि नहीं कहा, गया इतिदिक् ।

शाखा-प्रकरण में जो ऋक् प्रातिशाख्य के पाठ दिये गये हैं वे या तो चौखम्बा संस्करण से हैं या मैक्समूलर के संस्करण से । पूर्वावस्था में पटलों और पृष्ठों का पता दिया गया है, और उत्तरावस्था में कण्डों में सूत्राङ्क रखा है ।

एक और बात मैं अवश्य कह देता हूं । संसार में वेद-विचार करने वाले तीन भागों में विभक्त हो सकते हैं ।

(१) आर्य्यावर्त्तीय इतिहास के मध्यम-कालीन वाङ्मय के अनुसार वेद को लगाने वाले सज्जन (२) पाश्चात्य लेखक और (३) स्वामी दयानन्द सरस्वती की शैली का अनुकरण करने वाले । इन में से प्रथम संख्यान्तर्गत पुराने ढङ्ग के पण्डित तो वेदाध्ययन को बहुत काल से प्रायः छोड़ चुके हैं, अतः उनके विषय में कुछ कहना निष्फल है । द्वितीय श्रेणी के लोग अर्थात् पाश्चात्य लेखक इस समय वेद-विचार में बहुत व्यग्र हैं, पर वे भी एक ही दृष्टि से देख रहे हैं और अपने विपक्षियों के लेखों का कभी ध्यान नहीं करते । कदाचित् यही कारण है कि प्राचीन सभ्यता-अनभिज्ञ कुछ जनों को छोड़ के अन्य सब एतद्देशीय विद्वान् इन्हें पक्षपाती समझते हैं ।

ये लोग प्रत्येक बात को उसी रंग में देखते हैं, जैसे वह पश्चिम में हो चुकी है। परलोकगत बिहारीलाल शास्त्री ने 'दि वेदास ऐण्ड देयर अङ्गास् ऐण्ड उपाङ्गास' नामक एक ग्रन्थ आङ्गलभाषा में लिखा था। उस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द ही के वाक्य इधर उधर रखे गये हैं। उन्हें भी लेखक उचित क्रम नहीं दे सका। हमारी दृष्टि में वह ग्रन्थ विद्वत्तापूर्वक नहीं लिखा गया। अस्तु, उसी ग्रन्थ की समालोचना करते हुए थ ने पाश्चत्यों की प्रकृति दिखाई है। वह लिखता है— We are familiar with the strange works found in old libraries which expound all science, human and divine, in the light of the Bible, and which in each generation reinterpret the holy scripture to make it conform with the ideas of the day. अर्थात् 'बाईबल में सब मानव और दैव ज्ञान सिद्ध करने के लिये उसके भाष्यकार उसके अर्थ को समय २ पर पलटते गये' ऐसे ही ग्रन्थों से उस ने बिहारीलाल के ग्रन्थ की उपमा दी है। यह सत्य है कि यहां भी बहुत से सम्प्रदायी लोगों ने समय २ पर ब्रह्मसूत्रों से ही अपना पक्ष सिद्ध करना चाहा। पर इस से यह कभी नहीं सिद्ध होता कि सारे विचारक ही ऐसे हैं, और उन के ग्रन्थ इसी भाव से लिखे जाते हैं। हम इस के विपरीत कह सकते हैं कि पाश्चात्य लोग आर्य्यावर्त्तीय सभ्यता वा इस के वाङ्मय को किन्हीं विशेष कारणों से बहुत गिराना चाहते हैं, देखो मेकालयादि सुप्रसिद्ध लोगों ने इस विषय में क्या कहा था।

अस्तु, इन बातों को छोड़ता हूं। अब तो सत्य का अन्वेषण होगा और सब की बुद्धि की यथार्थ परीक्षा होगी।

मेरे विचार तीसरी श्रेणी के ही हैं। ऐसा होते हुए भी यथासम्भव मैंने पूर्व-पक्ष को पूर्ण-प्रकट करके उस पर विचार किया है। यही शैली इस ग्रन्थ के अगले भागों में भी रहेगी। उन में वे मौलिक

वाद भी विचारे जायेंगे, जिन पर कि पाश्चात्य लेखकों का आधार है, यथा भाषाविज्ञान इत्यादि।

ऋग्वेद के मन्त्रों, पदों और अक्षरों की गणना कर चुका हूं। गणना विषय पर कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों का ही देखना शेष है। इनके आगे छपने से अनेक रहस्य खुलेंगे।

इस ग्रन्थ के लिखने में हंसराज जी पुस्तकाध्यक्ष लालचन्द्र पुस्तकालय ने मुझे बहुत सहायता दी है। मित्र रामगोपाल जी शास्त्री भी समय २ पर अपनी सम्मति देते रहे हैं। इन दोनों महाशयों का मैं बड़ा कृतज्ञ हूं।

सज्जनगण निष्पक्ष होकर दोषों से सूचित करें। अलमति-विस्तरेण वेदविचारकेषु। इत्योम।

दयानन्द ऐं० वै० कालेज
लालचन्द्र, अनुसन्धान पुस्तकालय लवपुर,
श्रावण पूर्णिमा श्री वि० सं० १९७७

भगवद्दत्त

ऋग्वेद पर व्याख्यान

लेखक की अन्य पुस्तकें ।

(१) ऋषि दयानन्द स्वरचित (लिखित वा कथित) जीवन चरित । मूल्य ।)

(२) ऋग्मन्त्रव्याख्या । ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों की व्याख्या । मूल्य।-)

(३) ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, दो भागों में । मूल्य ।।।≡)

(४) गुरुदत्तलेखावली । श्री पं० गुरुदत्त एम० ए० के अङ्गरेजी लेखों का आर्य्यभाषानुवाद । (सहकारी अनुवादक श्री सन्तराम बी० ए०) । मूल्य १।।।)

(५) पञ्चपटलिका, अर्थात् अथर्ववेद का तृतीय लक्षण ग्रन्थ मूल्य १)

ओ३म्

ऋग्वेद पर व्याख्यान

शाखा-प्रकरण ।

सम्प्रति जो ग्रन्थ ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है उसे प्रायः शाकल वा शाकलक संहिता कहते हैं । यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से चली आई है । भगवान् कात्यायन अपनी ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भ में लिखते हैं—

अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके सूक्तप्रतीक ऋक्संख्य * ऋषिदैवतच्छन्दांस्यनुक्रमिष्यामः ।

अर्थात् शाकलक ऋग्वेदाम्नाय में इत्यादि । तदनुसार आर्य्यावर्त्तीय पण्डित इसे शाकल संहिता कहते आये हैं । शाकल के साथ शाखा शब्द का प्रयोग प्राचीन नहीं प्रत्युत मध्यम कालीन है । Govt. collection of mss. दक्षिण कालेज पूना के नं० १ में यह प्रयोग आया है । यह हस्तलिपि शारदा अक्षरों में है । इस में भी ऋग्वेद की समाप्ति पर यह पाठ नहीं । वहां

---

* निर्णयसागरादि यन्त्रालय प्रकाशित ग्रन्थों में "संख्या" पाठ छपा है । मद्रास गवर्नमेण्ट पुस्तकालय के प्रायः हस्तलिखित पुस्तकों में भी यही पाठ है । पूना संग्रह के किसी २ ग्रन्थ में "संख्य" पाठ है । हम ने प्रो० मैकडानल के अनुसार 'संख्य' पाठ शुद्ध माना है । कात्यायन की शैल्यनुसार चाहिये भी यही । इस का कारण आगे स्पष्ट होगा । (देखो उक्त साहब का संस्करण: पृ० x) ।

"ऋग्वेदाम्नाये शाकलके" ही है। परन्तु आरण्यक के अन्त में जहां सारा ग्रन्थ समाप्त होता है आगामी पाठ है "इति श्री ऋग्वेदं शाकलके शाखायां दशममण्डले ऋग्वेदः खिलसहितस्संहितारण्य सहितश्च सम्पूर्णस्समाप्तम्"। इसी प्रकार अर्वाचीन पाश्चात्य लेखक इस ऋग्वेद को sakala sakha or recension कहते हैं। उनके साथ अन्य एतद्देशीय विद्वान् भी सहमत हैं। इन सब के मतानुसार कठ, कालापी, पिप्पलादादि शाखाओं के समान यह ऋग्वेद शाखा-विशेष अर्थात् शाकल शाखा का है।

उपर्युक्त पण्डितों का कथन है कि शाकल शाखा का प्रवचनकर्ता शाकल ऋषि था। उस शाकल ऋषि का उल्लेख उन के प्रमाणानुसार निम्नलिखित स्थलों में मिलता है।

(१) शाकलाद्वा। अष्टाध्यायी सूत्र, ४। ३। १२८।

(२) अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति।

(ऐ० ब्रा० १.८।५)।

(३) "पाणिनि मुनि से कुछ काल पीछे होने वाले व्याडि मुनि ने अष्टाध्यायी का व्याख्यान "संग्रह" नामक ग्रन्थ निर्माण किया है, उस के मंगलाचरण में उक्त दोनों (शाकल और शाकल्य) को भिन्न २ रूप से नमस्कार किया है। " नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा "

(४) सर्वानुक्रमणी-भाष्य में षड्गुरुशिष्य ने लिखा है।

शाकलस्य संहितैका बाष्कलस्य तथापरा।

(quoted in M. Mullers. H. A. S. L. p. 237.)

(५) आश्वलायन श्रौतसूत्रभाष्य में—

"शाकलस्य बाष्कलस्य चाम्नायद्वयस्यैतदाश्वलायनसूत्रं नाम प्रयोगशास्त्रमित्यध्येतृप्रसिद्धं संबंधविशेषं द्योतयति" ॥

(६) विकृतिवल्ली १।४ की टीका में भट्टाचार्य्य गङ्गाधर ने लिखा है।

शाकलस्य शतं शिष्या नैष्ठिक ब्रह्मचारिणः।
पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः॥
शिशिरो बाष्कलः शाङ्खो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखा-भेद-प्रवर्तकाः॥*

ऐसे ही श्लोक भागवतादि पुराण ग्रन्थों में आये हैं।

इन विचारों की समालोचना।

(१) प्रथम प्रमाण के सम्बन्ध में लेखकों की सम्मति भिन्न २ है। सायणाचार्य्य ऐतरेयब्राह्मण के भाष्य में लिखता है—

"शाकलशब्दः सर्पविशेषवाची। शाकलनाम्नोऽहेः सर्पविशेषस्य यथा सर्पणं गमनं तथैवायमग्निष्टोमः।

* उपर्युक्त १; २; ३ और ६ प्रमाण को स्वामी हरिप्रसाद ने अपने वेदसर्वस्व में उद्धृत किया है।

अर्थात शाकल शब्द सर्पविशेषवाची है। इसी शब्द पर वैदिक इण्डैक्स में यह लेख है–

"SAKALA in the Aitareya Brahmana denotes the teaching of SAKALYA according to the St. Petersberg Dictionary. But Bohtlingk seems right in taking it as a kind of snake in that passage."

स्वामी हरिप्रसाद इस वचन का अर्थ करते हैं "जैसा इस का उपक्रम वैसा इस का उपसंहार, जैसा उपसंहार वैसा उपक्रम, सूर्य्य के समान शाकल की गति का उपक्रम और उपसंहार एक सा होने से भेद नहीं जाना जाता।

प्रथम हम सायणाचार्य के अर्थ को लेते हैं। सायण शाकल का अर्थ सर्प-विशेष करता है। परन्तु इस स्थल को छोड़ कर अन्यत्र यह शब्द इस अर्थ में दिखाई नहीं देता। प्रतीत होता है अहिः शब्द को देख कर सायण ने सर्पवाची अर्थ कर दिया है। अहिः शब्द मेघ और सर्पादि अर्थों में आता है। उणादि सूत्र आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च ४। १३८ से पाणिनि मुनि इसे बनाते हैं। अर्वाचीन काल में यह ज़न्द अज़ि Azi, फारसी अफ़ि आदि में सर्प अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, परन्तु निघण्टु में उपर्युक्त मेघार्थ (१। १०) के साथ इस का उदकार्थ (१।१२)भी दिया है। मेघार्थ स्वयं वेद से ही सिद्ध है। वृत्रेण यत अहिना बिभ्रत ऋ०। १०। ११३। ३ अर्थात आच्छा-

दक मेघ से इत्यादि। वैदिक काल वा गाथा काल में कि जब यह वचन लिखा गया था, तब शाकल का अर्थ सर्प हो, यह कहीं दिखाई नहीं दिया। अतः सायण का अर्थ त्याज्य है।

BOHTLINGK. ने सायण का अर्थ देख कर ही इधर उधर हाथ पैर मारे हैं। इसी का समर्थन मेकडानल और कीथ ने किया है। परन्तु सायणवत् यह अर्थ निस्सार ही है। राथ ने शाकल का अर्थ "शाकल्य की शिक्षा" किया है। सो यह अर्थ कुछ ठीक है। राथ का ऐसा अर्थ करना उस का स्वभाव है, क्योंकि वह प्रायः आर्य्यावर्त्तीय लोगों के दिये हुए किसी वचन के अर्थ का उन से विरुद्धार्थ ही करना चाहता है, अन्यथा उस का भाषा-विज्ञान किस अर्थ का? यहां उस ने सायण के विरुद्ध अर्थ किया है परन्तु हो ठीक सा गया है।

स्वामी हरिप्रसाद ने अहि का अर्थ सूर्य किया है। यह अर्थ प्राचीन काल में दिखाई नहीं देता। अर्वाचीन कोशों में अवश्य मिलता है। परन्तु मोनियर विलियम्स के कोशानुसार सूर्य अर्थ में अहि का प्रयोग कहीं साहित्य में नहीं मिला *। अस्तु, वैदिक काल में यह अर्थ न था। हरिप्रसाद शाकल का अर्थ ऋषि विशेष करता है। ऐसा अर्थ करके वह इसी शाकल को शाखा का प्रवचन-कर्त्ता मानता है। यह अर्थ सत्य नहीं। अन्यत्र महाभाष्यादि में शाकलस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः

---

* पं० जयचन्द्र शास्त्री ने किसी नाटक में आया बताया था। पर ग्रन्थ-नाम वा स्थल उन्होंने नहीं बताया।

६। १। १२७ ऐसा वचन आया है। इस विषय के अनेक उदाहरण आगे दिये जायंगे। यहां शाकल का अर्थ शाकल्य की शिक्षा वा सूत्रादि है। यही अर्थ पूर्वोक्त गाथा में आया है। इस के स्पष्टीकरणार्थ हम मूलवाक्य का प्रयोजनीय भाग उद्धृत करके उस का अर्थ दे देते हैं।

स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमस्तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते।

स वा एषोऽपूर्वोऽनपरो यज्ञक्रतुर्यथा रथचक्रमनन्तमेवं यदग्निष्टोमस्तस्य यथैव प्रायणं तथोदयनम्। तदेषाभि यज्ञगाथा गीयते। यदस्य पूर्वमपरं तदस्य यद्वस्यापरं तद्वस्य पूर्वम्। अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति यतरत्परस्तादिति।

अर्थ—"वह निश्चय यह अग्नि ही (है) जो अग्निष्टोम (है) उस की जो स्तुति की, इस कारण अग्निस्तोम। अग्निस्तोम होते हुए अग्निष्टोम, यह कहते हैं।

वह निश्चय यह अपूर्व=आरम्भ रहित, अनपर=अन्तरहित यज्ञक्रतु (है) जैसे रथचक्र अनन्त (है) ऐसे जो अग्निष्टोम (वह भी अनन्त है)। उसका जैसा ही प्रायण=आरम्भ वैसा उदयन=अन्त। तो यह यज्ञगाथा अच्छे प्रकार गाई जाती है। जो इस का पूर्व, अपर वही इसका। अथवा जो इस का अपर वही इस

का पूर्व । मेघ के समान गति शाकल्य की शिक्षा की नहीं जानते हैं ।"

कोई प्रश्न करे कि मेघ कहां से उत्पन्न होता है तो गाथाकार कहते हैं कि वार्त्ता रथचक्र के समान है । मेघ से वर्षा द्वारा समुद्रों में जल आता है और वहां से पुनः मेघ बन जाता है। सो इस का न आरम्भ और न अन्त है ।

उपर्युक्त लेख से पता लग गया होगा कि इस प्रथम प्रमाण से शाकल कोई ऋषि विशेष सिद्ध नहीं होता । अब हम द्वितीय प्रमाण को लेते हैं ।

२. शाकलाद्वा । अष्टाध्यायी ४। ३। १२८ ।

इस पर भट्टोजीदीक्षित कौमुदी में लिखता है ।

"अण् वोक्तेऽर्थे । पक्षे चरणत्वाद्वुञ् । शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलास्तेषां सङ्घोऽङ्को घोषो वा शाकलः । शाकलकः । लक्षणे क्लीवता ।

काशिका-विवरणपञ्जिका में जिनेन्द्रबुद्धि (७००–५०) का ऐसा लेख है—

"वुञोऽपवाद इति । चरणलक्षणस्य शाकलशब्दस्य चरणलक्षणत्वात् । शाकला इति । शाकल्य शब्दाद् गर्गादियञन्तात् कण्वादिभ्यो गोत्र

(४ । २ । १११) इति प्रोक्तार्थेऽण् । आपत्यस्य च तद्धितेनातीति (६ । ४ । १५१) यलोपः । शाकल इति स्थिते तदधीते तद्वेदेत्यण् (४ । २ । ५९) । तस्य प्रोक्ताल्लुक (४ । २ । ६४) शाकलाः । तेषां सङ्घः शाकलः शाकलक इति वा ।

मिताक्षरा में अन्नं भट्ट ।

अस्मादण्वा स्यात्सङ्घादिषु । शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । तेषां सङ्घादिः शाकलः शाकलको वा । चरणत्वात् वुञ् ।

काशिका में जयादित्य (६५०) ।

शाकल शब्दात्संघादिषु प्रत्ययार्थविशेषणेषु वाणप्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन्विषये । वुञो-पवादः । शाकलेन प्रोक्तमधीयते, शाकलाः । तेषां संघः, शाकलः । शाकलकः । शाकलोऽङ्कः । शा-कलकोङ्कः । शाकलकं लक्षणम् । शाकलकं लक्ष-णम् । शाकलो घोषः । शाकलको घोषः ॥

पदमञ्जरी में हरदत्त (११४०) ने लिखा है ।

वुञोपवाद इति । शाकल शब्दस्य चरण शब्दत्वात्, तद्-र्शयति । 'शाकलेन प्रोक्तमिति' ॥ (काशी संस्करण) ।

इस सूत्र पर दयानन्द सरस्वती का लेख और उपर्युक्त सब मतों का खण्डन।

शकलात्। ५। १। वा। प्राप्तविभाषेयम्। शकल शब्दो गर्गादिषु पठ्यते। तस्माद्यञन्तादित्येऽणि प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते। षष्ठीसमर्थाद्गोत्रप्रत्ययान्ताच्छकल प्रातिपदिकाद्विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। पक्षे च गोत्रचरणादिति वुञ्। शाकल्यस्य संघोऽङ्को लक्षणं घोषो वेति शाकलः शाकलकः। अस्मिन् सूत्रे जयादित्य भट्टोजिदीक्षितादयः कौमुदीकारास्तत् पाठिनश्च वदन्ति। "शाकलाद्वा"। ईदृशं सूत्रं लिखित्वा व्याख्यां कुर्वन्ति। शकल शब्दात्प्रोक्तेऽर्थेऽण्। शकलेन प्रोक्तमधीयते ते शाकलाः। तेषां संघः, अङ्कः, घोषो वा शाकलः। शाकलकः। पक्षे चरणत्वाद्वुञ्। लक्षणे क्लीवता इति। तदेतत् सर्वमसंगतमेवास्ति। कथम्। यदि शाकलाद्वेति सूत्रं न्याय्यं तर्हि तेषां मते शाकलं प्रातिपदिकं चरणवाचकम्। पक्षे चरणत्वाद्वुञित्युक्तत्वात्। चरणाद्धर्माम्नययोरिति वार्त्तिकनियमात् संघादिषु तद्धितोत्पत्तिः कथं स्यात्। एतत्तु तेषां कथनं पूर्वापरं विरुध्यते। यदि ते शाकलशब्दं चरणवाचकं न मन्येरन् तर्हि प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यागोत्रत्वात्तद्धितोत्पत्तिः स्यादेव, न गोत्रचरणादित्यधिकारात्। अथास्मिन् विषये महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिमुनिः "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च," "संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे," "लोपः शाकल्यस्य," इत्यादि सूत्रव्याख्यानावसरे शाकल्यस्येमानि लक्षणानि सूत्राणि शाकलानीति मत्वा शाकलं न प्रसज्यत इत्यादि कथनं बहुषु

स्य न ; करोति । तेन ज्ञायते शाकलाद्वेति सूत्रं नास्ति । यदि शाकल शब्दश्चरणवाची स्यात्तर्हि शाकलशब्दाद्धर्माम्नाययो रभिधेययो रेवाण् प्रत्ययः स्यात्र पुनस्तेषां मते शाकलं सूत्रस्य नाम कथं स्यात् । तस्मात्तेषां शाकलाद्वेत्यस्य व्याख्यानं सद्भिर्वैयाकरणैर्नादरणीयम् । स्त्रीलिङ्गप्रकरणे सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्य इत्यत्रोक्तम् । कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते । पूर्वोत्तरौतदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम् ॥ १२६ ॥

इस प्रकार शाकल्य के गोत्र में होने वालों को शाकल कहा गया है। शाकल्य के छात्र भी शाकल कहे जाते हैं। सारांश यह कि शाकल्य का संघ, अङ्क, लक्षण और घोष शाकल वा शाकलक कहा गया है। अतएव यह सूत्र वा शकल शब्द चरण वाची न रहा।

भाष्यकार पतञ्जलि की सम्मति।

१. 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः' ४, १, १८ पर पतञ्जलि कात्यायन की सम्मति उद्धृत करके उस पर भाष्य करते हैं। "लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानम्" 'लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । शाकल्यायनी यदि पुनरयं शकल शब्दो लोहितादिषु पठ्यते । नैवं शक्यम् । इह हि शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः कण्वादिभ्यो गोत्रे (४,२, १११) इत्यण् न स्यात्"।

यहां पतञ्जलि कहते हैं कि कात्यायन की सम्मति के अनुसार शकल प्रातिपदक से तद्धितसंज्ञक ष्फ प्रत्यय हो जावे । परन्तु

शकल शब्द लोहितादिकों में न पढ़ा जाय। जहां यह पढ़ा है अर्थात् कण्व के पश्चात्, वहां इस का प्रयोजन यह है कि शाकल्य के छात्र भी शाकल कहे जाते हैं।

२. पुनः "अण्यगाऽत्यप्" ४, २, १०३ पर कात्यायन का वार्त्तिक तेभ्यष्ठञ्ठौ ॥ ३ ॥ देकर भाष्यकार ने अनेक उदाहरण दिये हैं। एक उदाहरण यह है "शाकलं नाम वाहीकग्रामस्तस्मादुभयं प्राप्नोति। शाकलिकी शाकलिका"।

१ (क) वा० दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम ॥८॥ ६,१,७७।

(ख) नित्ये च यः शाकलं भाक्समासे तदर्थमेतद्गणग्रहणंच क्रा ॥ ६,१,७७

(ग) किं चान्यत्प्राप्नोति। शाकल्यम ६,१,१२५।

(घ) समासे शाकलं न भवति ६,२,५२।

(ङ) इदं तर्हि प्रयोजनं दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम ८,२,१०८

पूर्वोक्त पांच स्थलों में शाकल शब्द का प्रयोग शाकल्य की शिक्षा अथवा शाकल्य के सूत्रों के सम्बन्ध में आया है और इस का प्रमाण महाभाष्य में ही मिलता है।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च. ६.१,१२७

इस सूत्र पर पतञ्जलि कात्यायन की सम्मति उद्धृत करते हैं।

सिन्नित्य समासयो: शाकलप्रतिषेध: ॥१॥

"सिन्नित्य समासयो: शाकल्यस्य प्रतिषेधो वक्तव्य: ।अयं ते योनिर्ऋत्विय: (ऋ.३।२९।१०)। प्रजां विन्दाम ऋत्वियाम्।

वैयाकरणः सौवश्वः॥ नित्यग्रहणेन नार्थः। सित्समासयोः शाकलं न भवतीत्येव। इदमपि सिद्धं भवति। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः। नद्यामातिर्नद्यातिः।"

इस वचन से स्पष्ट हो जाता है कि शाकल्य की शिक्षा को कात्यायन वा पतञ्जलि शाकल शब्द से कहते हैं।

पूर्वोक्त पक्ष का समर्थन मध्यम कालीन साहित्य में।

सर्वानुक्रमणी पर वृत्ति लिखते हुए षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखता है "तत्राम्नाये सम्यगभ्यासयुक्ते खिलरहिते शाकलके।

शाकल्योच्चारणं शाकलकम्।"

यहां पर कात्यायन प्रयुक्त शाकलक का अर्थ षड्गुरुशिष्य ने शाकल्य का उच्चारण किया है।

इस लेख में पाठभेद।

वेदार्थदीपिका का जो हस्तलेख दक्षिण कालेज पूना के पुस्तकालय में अङ्क ३४ से दिया हुआ है उस में यह पाठ है। "तत्राम्नाये सम्यगभ्यासयुक्ते खिलरहिते। शाकल्येन दृष्टः। शाकलः शाकल एव शाकलकः।"

यद्यपि इन दोनों लेखों में बड़ा अन्तर है और द्वितीय की अपेक्षा प्रथम शुद्ध है तथापि दोनों से किसी शाकल व्यक्ति विशेष ऋषि का होना खण्डित हो जाता है।

पूर्वोक्त पक्ष के समर्थन में ऋक्प्रातिशाख्य के कर्ता शौनक का लेख *।

(१) तन्निमात्रे शाकला दर्शयन्त्याचार्यशास्त्रपरिलोपहेतवः ।

प्रथम पटल. पृ० ४६.

इस पर टीका करते हुए उव्वट ने 'शाकलाः' का अर्थ किया है "शाकल्य ऋषेर्मतानुसारिणः" ।

इस सूत्र के अर्थ में मैक्स मूलर की भ्रान्ति ।

अपनी H.S. L. के पृ० १२६ पर वह लिखता है —

"He (शौनक) mentions (1.65) the Saklas as observing a certain peculiar pronunciation out of respect for their master, who seemes to have sanctioned it in his own rules. Who this master was is difficult to say. But it is most likely the same who (1.52) पृ० २५. is called the master Veda Mitra (friend of the Veda) and who (1.253) is called शाकल्यपिता the father of Saklya.

---

* यद्यपि शौनक प्रदर्शित सब नियम ऋग्वेद में नहीं मिलते, तथापि सम्भव है कि वे आश्वलायनी शाखा में मिल जावें क्योंकि शौनक आश्वलायन का शिष्य था । यह आगे लिखा जायेगा ॥

और मै० मू० ने भी यही लिखा है ।

There is not a single ms. at present existing of the Rig. Veda in which the rules of our Prtisakhya are uniformally observed, and the same applies to the mss of the other Vedas. सम्भव है वह नियम दोशिरी में मिलें ।

'इस का अभिप्राय यह है कि शाकल अपने आचार्य की श्रद्धा के कारण एक विचित्र उच्चारण मानते हैं। वह आचार्य कौन था? यह कहना यद्यपि कठिन है तथापि वह वेदमित्र अर्थात् शाकल्यपिता=शकल था।' यह मैक्समूलर की सम्मति सत्य नहीं क्योंकि पूर्वोक्त और आगामी सब प्रमाणों से सिद्ध है और हो जायगा कि शाकलों का आचार्य स्वयं शाकल्य ही है।

पूर्वोक्त सूत्र में यह उदाहरण है।

न त्वा भीरिव विंदती३ँ ऋ० १०। १४६। १

मूल, पदपाठ, और निरुक्त ९, ३० में विंदती ३ँ ऐसा त्रिमात्र पाठ ही है। परन्तु निरुक्त के व्याख्यान में नहीं।

दूसरे आचार्य प्लुतोच्चारण नहीं करते थे। इस का प्रमाण तैत्तिरीय ब्राह्मण २। ५। ५। ६ में मिलता है। वहां यही मन्त्र ऐसा मिलता है।

"न त्वा भीरिव विंदती"।

(२) उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन पृ० ५०।

(अर्थ) और अपृक्त उकार इति से युक्त, अनुनासिक और दीर्घ होता है, शाकलमत से। यहां शाकल से अभिप्राय शाकल्य के नियम से है। इस का प्रमाण पाणिनीय सूत्र "उञः ऊँ" अ० १। १। १७ है। इस में शाकल्य की अनुवृत्ति ऊपर से

आती है। (अर्थ) उञ की प्रगृह्य संज्ञा शाकल्य के मत में हो अनार्ष इति परे होने पर। तथा उञ् के स्थान में दीर्घ अनुनासिक ऊँ आदेश हो और वह भी प्रगृह्य हो। उदाहरण—उ इति, ऊँ इति। दूसरों के मत में विति होगा।

इसी अभिप्राय के सूत्र शौनक चतुरध्यायिका में भी आते हैं।

उकारस्येतावपृक्तस्य ॥ ७२ ॥

U is nasalized when standing alone before इति. In the Pada text of the Atharvana as in those of the other Vedas, the particle U is always written ऊँ इति. In this rule its nasality in such a situation is noticed, in the rule next succeeding are taught its long quantity and its exemption from conversion into a semivowel before the following vowel.

The term aprika अपृक्त means 'uncombined with any other letter:' it is said also of the particles आ and ओ (=$a+u$) in rules 1 79, IV 113 below.

दीर्घं प्रगृह्यश्च ॥७३॥

In the same situation it is also long, and प्रगृह्य। (Whitney's translation).

यजुः प्रातिशाख्य में भी यही नियम है।

उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम् ॥ का० ४.९३॥

इति परे आने पर (सू० ९१ से) अपृक्त=अकेला उकार दीर्घ और अनुनासिक हो जाता है।

तैत्तिरीय ऐसा नहीं करते ।

उकार के सम्बन्ध में तैत्तिरीयों का ऐसा नियम नहीं है । उदाहरण में एक मन्त्र को देखिये—

"वाममद्य सवितर्वाममु श्वः" ऋ० ६।७१।६ यजुः ८।६ तै० १।४। २३ तथा ४।२।१२.

इस पर ऋग् तथा यजुः के पदपाठों में ऊँ ऐसा पद बन जाता है,परन्तु तैत्तिरीय शाखा में "उ" ऐसा ही रहता है । इसी लिये पाणिनि ने १।१।१७ म शाकल्य ग्रहण करके विकल्प किया है ।

तत्सम्बन्धि पाणिनीय सूत्र में अनार्ष का अर्थ ।

प्रायः व्याख्याकारों ने यहां 'ऋषिर्वेदः' मान कर अनार्ष का अर्थ अवैदिक किया है । वे लोग ब्राह्मणादि ग्रन्थों को भी वेद मानते हैं । क्योंकि पा० १।१।१६ पर जो उदाहरण "ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत" आरम्भ से दिया जाता है वह ब्राह्मण का ही सम्भव है । यद्यपि अभी तक वैसा पाठ तो नहीं मिला परन्तु 'ब्रह्मबन्धविती' ऐतरेय ब्राह्मण ७। २७ में मिलता है *। अतः जो लोग ब्राह्मण तक को वेद=आर्ष मानते हैं उन के लिए शाकल्य संहिता आर्ष क्यों न होगी ? इस शाकल्य संहिता का आदर बहुत काल से होता आया है । देखो महाभाष्य में लिखा है ।

* पीछे "ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत" पाठ काठक १०।५।६ में मिला है ।

" शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत। .... "

शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत् ॥ (अर्थ) शाकल्य से भले प्रकार की गई संहिता की समाप्ति पर वर्षा हुई।

ऐसी संहिता में आया हुआ इति पद उन के मत के अनुसार अवैदिक कैसे होगा? हमारी समझ में जो समाधान आता है उस के अनुसार अन्य बहुस्थलवत् यहां भी आर्ष का अर्थ ऋषि=अनूचान प्रोक्त ही है। प्रतीत होता है कि शाकल्यादि ऋषियों के समय में साधारण जन सम्बोधन में आये वैदिक पदों के आगे इति शब्द प्रयोग में लाकर उन्हें प्रगृह्य माना करते थे। शाकल्य ने उन की बात स्वीकार कर ली और अपनी संहिता में उन्हीं का प्रकार जता दिया। और क्योंकि अन्य सब पदकार शाकल्य के समय के पश्चात् हुए हैं, अतः उन सब ने यह प्रकार स्वीकार कर लिया।

यहां कोई कह सकता है कि शाकल्य संहिता आर्ष नहीं अथवा कोई उच्च स्थान नहीं रखती क्योंकि पतञ्जलि मुनि स्वयं उस की संहिता के साथ "सुकृतां" का प्रयोग करके उसे साधारण ग्रन्थवत् "तेन अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" के अनुसार बतलाते हैं। और ब्राह्मण तो प्रोक्ताधिकार में हैं तो उस का उत्तर यह है कि उन के मतानुसार तो प्रोक्ताधिकार में होता हुआ भी कल्प आर्ष नहीं अर्थात् वेद नहीं।

वेद संहिता में किसी प्रगृह्य की सन्धि नहीं हुई। 'उ' पद

कई स्थलों पर प्रयुक्त है और कई स्थलों पर नहीं।

घृतम्वस्य धाम ऋ० २. ३. ११

„ „ तै० १.०. १.०. २.

उ इति के स्थान में ऊम् इति इस लिये है कि "यरो नुनासिके नुनासिको व." ८।४।४४ से विकल्प होजाता है। यह बात हरदत्त ने इस स्थल पर पदमञ्जरी में लिखी है।

(३) " संयुक्तंतु व्यञ्जनं शाकलेन।" पटल, ६। १४. पृ. १५७. पदादि (६.१२) संयुक्त व्यञ्जन दीर्घ से परे (६.१३) द्वित्व नहीं होता, शाकल विधान से।

उदाहरण, आ त्वाहार्षमंतरेधि ऋ० १०. १७३. १.

„ „ तै० ४. २. १. ४

„ „ मै० २. ७. ८.

„ „ अ० ६. ८७. १.

„ त्वाहार्षमन्तरभूः य० १२. ११ (निर्णय सागर)

(४) लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन। षष्ठ पटल पृ० १६० (३९६)। लकार का अभिनिधान (६। १७) होता है, ऊष्मों (श, ष, स, ह) के आने पर भी शाकल मत से।

उदाहरण, पदपाठ—न अरायासो न जळहवः

संहिता। न अरायासः न जळहवः ऋ० ८.६१.११

अगले कई सूत्रों में भी शाकल शब्द का प्रयोग अनेक ऐसे नियमों में आता है।

(५) असंयुक्तं तु शाकलम्। पृ० १९१. (६००)

(६) सर्वत्रैके करणस्थानभेदे वा शाकलम्। (४०१)

(७) चतुः क्रमस्त्वाचारितात्र शाकलैः। पृ० २६३. ११.१९

(८) असर्वशस्त्रिप्रभृतिष्वनेकशः स्मरन्ति संख्यानियमेन शाकलम्। ११, २१

(९)—शाकलाः क्रमे पृ० २६१ (६७३)

इन सूत्रों के उद्धृत करने का यही प्रयोजन है कि यहां भी शाकल शब्द से शाकल्य के नियमों या उस के मतानुयायियों अर्थात् शिष्यों से अभिप्राय है। प्रथम प्रमाण में उव्वट ने भी यही अर्थ किया है। इस से भी हमारा मत पुष्ट होता है।

शाकल्य कितने हुए हैं ?

शाकल्य और शाकल का सम्बन्ध जानने के अनन्तर यह जानना आवश्यक है कि शाकल्य कितने हुए हैं ?

(१) एक शाकल्य का उल्लेख तो हो ही रहा है। उसका और प्रमाण भी देखिये।

(१) इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।

उदात्त पूर्व रूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत ॥ १३ ॥

तृतीय पटल पृ० १०२।

(अर्थ) ह्रस्व इकार की अवस्था में प्रश्लेष, क्षैप्र, और अभिनिहित संधियों में उदात्त पूर्व और अनुदात्त उत्तर रूप आने पर (एवम्) ऐसे स्वरित करे। उदाहरण—

(१) स्रुचीवघृतम् । ऋ० १०, ६१, १५, प्राश्लिष्ट सन्धि

(२) योजान्विन्द्र ते हरी । ऋ० १, ८२, १, क्षैप्र सन्धि

(३) तेऽवर्धन्त । ऋ० १, ८५, ७, अभिनिहित सन्धि

(२) नियमं कारणादेके प्रचयस्वर धर्मवत् ।

प्रचयस्वर आचारः शाकल्यान्यतरेतयोः ॥

प० ३। २२, पृ० १०५, (२०८)

(३) सर्वैः प्रथमैः स्पर्शैरुपधीयमानः शकारः ।

शाकल्य पितुर्मतेन छकारमापद्यते ॥ ४ ॥

प० ४, पृ० ११० (२२३)

(अर्थ) सब प्रथम स्पर्शों से उपधीयमान शकार शाकल्य के पिता के मत से छकार को प्राप्त होता है । उदाहरणः—

(१) भृंगेव नः प्रथमा गंतमर्वाक् छफाविव ऋ० २, ३९, ३, संहिता।
भृंगाऽइव नः प्रथमा गन्तम् अर्वाक् शफौऽइव ,, पदपाठ।

(२) विपाट् छुतुद्री ऋ० ३, ३३, १, विऽपाट् शुतुद्री ।

(३) तत्रायं सोमस्त्वमेह्यर्वाक् छश्वत्तमं ऋ० ३, ३५, ६,

उव्वट का उद्धृत यह (छश्वत्तमं) पाठ किसी सम्प्राप्य शाखा में नहीं मिलता ।

(४) वर्धनेव वाजिञ्छ्नथिह्यमित्रान् ऋ० १, ६१, ५ ।

यहां छकार है और यह मन्त्र केवल ऋग्वेद में ही है ।

मूल ऋग्वेद में शाकल्य के पिता (शकल) के अनुसार पाठ है।

(४) न शाकल्यस्य ॥ १३ ॥ पृ० १११ (२३२) पटल चतुर्थ ।

(अर्थ) शाकल्य के मत में छकार नहीं होता ।

उदाहरण, वज्रिञ् श्नथिहि । तच्शंयोः ।

(५) समापाद्यं नाम वदंति षत्वं तथा णत्वं सामवशांश्च संधीन्।
उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्याळिशाकल्य गार्ग्याः ॥३१॥

पट[redacted] १३, पृ० १०८, (७३९)

यजुः प्रातिशाख्य में शाकल्य ।

अधिकार ७९ शाकल्यः शषसेषु ॥ १० ॥ अध्याय ३ ।

परभूत श, ष, स में संहिता (१) में शाकल्य विसर्जनीय के विकार को नहीं मानता ।

आशुः शिशानः ऋ० य०, सा० ।

अदितिः षोडषाक्षरेण ।

देवो वः सविता । य० ११

निरुक्त में शाकल्य ।

'वने न वायो न्यधायि चाकन्' । ऋ० १०, २९, १ ।

इस पर निरुक्त ६ । २८ में लिखा है ।

"वन इव वायो वेः पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा । वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः ।"

अर्थात् शाकल्य ने 'वायो' का जो वा, यः पदपाठ बनाया है वह युक्त नहीं ।

यह मन्त्र अथर्व का २०, ७६, १ है । वहां भी पदपाठ में त्वा । यः ही लिखा है ।

पूर्वोक्त प्रमाणों के धरने का यह प्रयोजन है कि प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में भी शाकल शब्द शाकल्य के नियम का द्योतक है । और शाकल्य के नियम ऋग्वेद में मिल जाते हैं । एक स्थान पर शाकल्य के पिता का नियम भी ऋग्वेद प्रातिशाख्य में निरूपित है । इन से यही परिणाम निकलता है कि ऋग्वेद तो पहले वर्तमान था, पर जब शाकल्य ने इस का पदपाठ करके अपनी संहिता बनाई तो ऋग्वेद पर उस का प्रभाव होने से इसे शाकल वा शाकलक कहा गया । शाकल्य के पिता का मत भी ऋग्वेद में मिल जाने से सिद्ध है कि मूलवेद में यद्यपि शाकल्य के नियम वर्ते जाने लग पड़े थे, तथापि ऐसा नहीं था कि औरों के वर्ते ही न जाय । हां शाकल्य के नियम अधिक वर्ते गये हैं ।

लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९॥ सर्वत्र शाकल्यस्य ८।४।५०

(अर्थ) 'जो अवर्ण से परे और अश् प्रत्याहार के पूर्व यकार वकार हो तो उनका विकल्प करके लोप होता है, शाकल्य आचार्य के मत में । १। जहां २ द्विर्वचन कह आये हैं वहां २ शाकल्य आचार्य के मत से न होना चाहिये ॥२॥

इन दोनों सूत्रों में जो कुछ आया है वह निरपवाद वेद के लिखने में वर्ता गया है ।

यह शाकल्य सब से प्रथम पदपाठकार प्रतीत होता है, क्योंकि इस के प्रायः नियम दूसरे पदकारों ने ले लिये हैं। यह पूर्वोक्त प्रातिशाख्यों की तुलना से प्रतीत हो गया होगा।

(२) स्थविर शाकल्य।

शाकल्य के अतिरिक्त एक स्थविर शाकल्य का उल्लेख भी मिलता है। इस के सम्बन्ध में ऐतरेय आरण्यक का अनुवाद करते हुए कीथ महाशय ऐसा लिखते हैं।

Geldner (Vedische Studien, III 144 sq) considers that शाकल्य must be identical with Vidagdha शाकल्य mentioned in the Satapatha Brahmana, XI, 6, 3; XIV, 6, 9 (see Weber, Ind. Stud., IX, 277 sq; Indian Literature, P. 35) and indentified with the maker of the Padapatha by the Vayu Purana, LX, 58 ....I would lay stress on the fact that in the Aranyaka he is Sthavira Sakalya,(a) in the Brahmana Vidagdha. These names are too distinct to permit of identification. The शाकल्य of the Pratisakhya is likewise Sthavira and must be the same as the man here (b) (P. 240.)

(a). It is true that Sthavira does not ocur in III 1, 2, but I do not think it is reasonable to take the Sakalya of that passage as different from him of III, 2, 1, 6, as does e. Weber, Indian Literature, P. 50.

(b). On him see Max Müller, Rigveda Pratisakhya p.p. 7 sq.

वैदिक इण्डेक्स में भी मैकडानल और कीथ का ऐसा ही लेख है।

"शाकल्य 'desendant of शाकल' is the patronymic (गोत्र नाम, अपत्य वाचक) of Vidagdha in the Satapatha Brahmana, and of Sthavira in the ऐतरेय and शाङ्खायन आरण्यक'S।" (Vol. II P. 368).

प्राचीन ग्रन्थों में नामविशेष के साथ स्थविर का प्रयोग।

(१) "हन्त पूर्वेषामाचार्यं स्थविरं जातूकर्ण्यं पृच्छानीति। तं ह पप्रच्छ। यद्यतिक्रान्तमुल्बणं कर्ता वा स्वयं बुध्येतान्यो वा बोधयेत कथं तदुल्बणमनुल्बणं भवेत्पुनर्वचनेन वा मन्त्रस्य होमेन वेति पुनर्वाच्यो मन्त्र इति ह स्माह जातूकर्ण्यः। तमलीकयुः पुनः पप्रच्छ शस्त्रं वानुवचनं वा निगदं वा याज्यां वा यद्वान्यत्सर्वं तत्पुनर्ब्रूयादिति यावन्मात्रमुल्बणं तावद्ब्रूयादृचं वार्धर्चं वा पादं वा पदं वा वर्णं वेति ह स्माह जातूकर्ण्यः" कौशीतक ब्रा० २६।५.

(२) प्राच्यपंचाला उपधानिभोद्यः शाकल्यस्य स्थविरस्य

ऋक्प्रातिशाख्य पटल २,४६.

स्थविर शब्दवत् युवन् शब्द भी कई नामों के साथ लगता है। कौशिक सूत्र ६।`१ में युवा कौशिक नाम आता है और यह कौशिक से भिन्न व्यक्ति का नाम है क्योंकि ६,१० में "पूर्वया कुर्वीत"—इस विधि में कौशिक नाम आ चुका है। और युवा कौशिक की सम्मति है "अन्यतरया कुर्वीत"।

(३) विदग्ध शाकल्य।

शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में याज्ञवल्क्य के साथ

इस विदग्ध शाकल्य का जो सम्वाद हुआ था, सो दिया है। वहां इसका अनेकवार नाम आया है।

हमारी दृष्टि में शाकल्य, स्थविर शाकल्य और विदग्ध शाकल्य तीनों भिन्न २ पुरुष हुए हैं। पुराने ग्रन्थों में स्थविर और युवन् विशेषण देकर भिन्न २ व्यक्ति कहे गये हैं। यह पूर्वोद्धृत प्रमाणों से ज्ञात होचुका है, अतः शाकल्य और स्थविर शाकल्य के भिन्न २ मानने में कोई दोष नहीं। और तीसरा भी विदग्ध विशेषण के आजाने से भिन्न है, इस परिणाम में हम कीथ के साथ सहमत हैं।

कार्त्तकौजपादयश्च। अ०६।२।३७॥

इस सूत्र पर जो गण है उस में "शाकलशुनकाः।" "शाकलसणकाः।" दो गण दिये हैं। यहां भी शाकल का अर्थ शाकल्य के शिष्यों से है।

विकृति वल्ली

सर्वज्ञन्तं * जगत्सेतुं परमात्मानमीश्वरम्। .... तं सर्वज्ञं
वन्दे नारायणं देवं निरवद्यं निरञ्जनम्॥
नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महानिधिम्।
मुनीन्द्रं सर्वदेवज्ञं * ब्रह्मज्ञं लोकविश्रुतम्॥ .... वेदज्ञं
नमामि शौनकाचार्यं * शाकल्यं स्थविरन्तथा। ...... शाकलाचार्यं
ब्रह्मविद्या गुरुं श्रेष्ठं भारद्वाजं बृहस्पतिम्॥

शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महात्मना *। .... महर्षिणा
जटाद्या विकृतीरष्टौ वक्ष्यन्ते नातिविस्तरम ॥

उपर्युक्त श्लोक विकृतिवल्ली ग्रन्थ में आए हैं। जिनका पूरा पाठ दिया गया है वे श्लोक मद्रास के गवर्नमैंगट पुस्तकालय की सूची के सं० ६५८ के नीचे उद्धृत किये गये हैं। यह ग्रन्थ सत्यव्रत सामाश्रमी ने छपवाया भी है। वहां जो पाठ मिलते हैं वे पाठभेद में दे दिये गये हैं। इन में "शाकल्य" का अर्थ गङ्गाधर भट्टाचार्य टीकाकार ने ऐसे किया है—

"शाकल्याचार्यं नमामि. शकल एव शाकल्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययः, स चासावाचार्यश्चेति" । पृ० १.

दक्षिण कालेज पूना की नवीन सूची में सं० ५५४ में यह लेख है———

"On page 40, beside, begins a different work forming rather a supplement to the Prâtiśâkhya with these verses:—

ॐ तं सर्वज्ञमगत्सेतुं परमात्मानमीश्वरं ॥
वंदे नारायणं देवं निरवद्यं निरंजनं ॥१॥
नत्वादौ शाकलाचार्यं शाकल्यस्थांचिरं (स्थविरं ?) तथा ॥
ब्रह्मविद्या गुरुं श्रेष्ठं भारद्वाजं बृहस्पतिं ॥२॥
शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महर्षिणा ॥
जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यंते नातिविस्तरं ॥ ३ ॥

The work ends thus -

पदद्वयमनुक्रम्य व्युत्क्रमात्क्रमसंधिवत ॥
स्वर लक्षण संयुक्ता सा जटेत्यभिधीयते ॥ १९ ॥
॥ इति जटापटलं समाप्तं ॥"

यह ग्रन्थ निश्चय ही विकृतिवल्ली नामक है। परन्तु मुद्रित ग्रन्थ में कुल २३ श्लोक हैं और इस में १९। इस का अन्तिम अर्थात् उन्नीसवां श्लोक वहां २२वां है। इस के आरम्भ में ही "नत्वादौ शौनकाचार्य" वाला श्लोक लुप्त है। इस से ज्ञात होता है कि इस छोटीसी पुस्तक में भी अत्यन्त पाठभेद हो गया है। हमें तो इस पुस्तक के व्याडिरचित होने में भी सन्देह है, क्योंकि पूर्वोक्त श्लोकों में "व्याडिनैव महर्षिणा" पदों में 'एव' शब्द और 'महर्षि' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। एव शब्द पर गङ्गाधर टीकार ने यह लिखा है—"शौनकाचार्याणां मते जटाद्यष्टविकृति लक्षणस्य व्याडिप्रणीतस्यैवेष्टत्वान्न माण्डूकेय प्रोक्तस्य जटालक्षणस्येत्येवाभिप्रायार्थ एवकारः।" अर्थात् माण्डूकेय प्रोक्त लक्षणादि से भिन्नता दिखाने के लिये यह एवकार है। परन्तु स्वयं व्याडि को यह कहने की आवश्यकता न थी। पुनः स्वनाम के साथ महर्षि पद का प्रयोग इसे अन्यरचित बताता है। कोई कह सकता है कि रामायणादि ग्रन्थों में भी तो "नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः ॥" * १ ॥ बालकाण्ड। वाल्मीकि स्वयं अपने को मुनिपुंगव लिखते हैं।

---

* यह पाठ इलंगल की रामायण में है। निर्णयसागर वालों का पाठ 'मुनिपुंगवम्' अशुद्ध है।

तो उस का उत्तर स्पष्ट है कि रामायण के पहले चार सर्ग स्पष्ट ही प्रक्षिप्त हैं। वास्तविक रामायण आगे से आरम्भ होता है। ऐसे ही सम्भव है कि व्याडि प्रोक्त कोई विकृति-लक्षण-सम्बन्धी ग्रन्थ हो और उस के बिगड़े बिगाड़े यह श्लोक रह गये हों, परन्तु यह पुस्तक व्याडि ने स्वयं कदापि नहीं कहा।

हमारी सम्मति में सब पाठों को मिला के द्वितीय श्लोक तो अनर्थक ठहरता है और मद्रास वाला तृतीय श्लोक द्वितीय हो सकता है।

"नमामि शौनकाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा।" यदि ऐसा न भी हो तो शाकल्याचार्य वाला पाठ नवीन काल का है और दूसरे प्रमाणों के सम्मुख इसका कोई आदर नहीं।

हरिप्रसाद ने न जाने यह कैसे लिख दिया कि पूर्वोक्त श्लोक व्याडि प्रणीत संग्रह के मंगलाचरण में आया है? संग्रह तो सम्प्रति कहीं मिलता ही नहीं।

(४) सर्वानुक्रमणी-भाष्य में षड्गुरुशिष्य का लेख।

मैक्समूलर ने अपने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में सर्वानुंक्रमणी-भाष्य में से षड्गुरुशिष्य के कुछ वचन दिये हैं। उन में ही " शाकलस्य संहितैका बाष्कलस्य तथापरा।" लेख मिलता है। पूर्वपक्षी इस वचन से ऋग्वेदीय दो शाखाएं मानता है, अर्थात् शाकल और बाष्कल की। सर्वानुक्रमणी-भाष्य

में आया हुआ यह लेख चाहे षड्गुरुशिष्य का हो, वा उसने कहीं से उद्धृत किया हो, बहुत पुराना नहीं। यह उसी कालका है जब कि ऋग्वेद को शाकल-प्रोक्त भी मानने लग पड़े थे। इन श्लोकों का अधिकांश भाग आलङ्कारिक और कल्पित है, अतः इनका कोई प्रमाण नहीं। मैक्समूलर की भी यही सम्मति है। "It need hardly be pointed out that this passage contains a strange and startling mixture of legendry and historical matter......" p. 232.

उपर्युक्त श्लोकों के अन्तिम भाग में यह पंक्ति आई है। वह भाग यद्यपि कुछ २ ऐतिहासिक है, तथापि अन्य प्रमाणों की प्रबलता से उसका यह वाक्य आदरणीय नहीं।

इसी क्रम में आश्वलायन-गृह्यसूत्र का भी एक वचन विचारणीय है। श्री सत्यव्रतसामाश्रमी ने ऐतरेयालोचन में चरणव्यूह के टीकाकार महीदास के प्रमाण से आश्वलायन-गृह्यसूत्र ३।४ में आये हुए कुछ ऋषियों के नाम तीन गणों में बांट दिये हैं।

माण्डूकेय गण—जानन्ति, बाहवि, गार्ग्य, गौतम, शाकल्य, बाभ्रव्य, माण्डव्य।

शाङ्खायन गण—कहोल, कौपीतक, महाकौषीतक, पैङ्ग्य, महापैङ्ग्य, सुयज्ञ।

आश्वलायन गण—ऐतरेय, महैतरेय, शाकल, बाष्कल, सुजातवक्त्र, औदवाहि, महौदवाहि, सौजामि, शौनक।

उपर्युक्त तीन गणों में ७+६+६=२२ बाईस ऋषि गिने गये हैं। सत्यव्रत और उस से नकल करने वाले बालकृष्ण एम० ए० से महाकौषीतक और बाष्कल दो नाम छूट गये हैं। हमारा प्रयोजन यहां तृतीय गणस्थ "शाकल" से है। कोई कह सकता है कि यही "शाकल" आधुनिक शाकल संहिता का प्रवचनकर्त्ता हुआ है। पर यह बात सत्य नहीं। प्रथम गण में "शाकल्य" का नाम आ चुका है। पूर्वोद्धृत कई श्लोकों से पाठकों को ज्ञात हो चुका होगा कि शाकल्य के शिष्य ही शाङ्खायन और आश्वलायन थे। इन्हीं दोनों का सम्बन्ध द्वितीय और तृतीय गणों से है। शिष्य गुरु से निश्चय ही उत्तरकालीन हैं। उन्हीं शिष्यों और प्रशिष्यों की परम्परा में से शाकल एक है। यह शाकल कदापि शाकल-संहिता का प्रवचनकर्त्ता नहीं हो सकता। शाकल-संहिता (शाकल्य के पद-पाठ वाली संहिता) तो बहुत पूर्व बन चुकी थी, नहीं नहीं उस का क्रमपाठ भी हो चुका था। ऋग्वेद के क्रमपाठ का कर्त्ता बभ्रुपुत्र सुप्रसिद्ध है। "इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रमम्" ऋक्प्रा० ११।६५ अर्थात् बाभ्रव्य ने क्रम-संहिता का प्रवचन किया। यह बाभ्रव्य पूर्वोक्त प्रमाण में प्रथमगणीय और शाकल्य के निकटवर्त्ती है। अतएव तृतीय गणस्थ ऋषियों से बहुत पहले शाकल्य था, तथा च उस की संहिता पदपाठ रूप में थी। उसी के शिष्यों प्रशिष्यों में कोई

व्यक्ति उस का बहुत प्रचार करने वाला हुआ है कि जिस का गुणनाम शाकल्य हुआ। वही तृतीय गण में गिना गया है। पाठक इतने लेख से निश्चय कर चुके होंगे कि यह शाकल्य शाकल-संहिता का प्रवचनकर्त्ता कभी नहीं हो सकता। वह गौण नामधारी तो अन्य ही था। देखो उसका समीपवर्त्ती शौनक अनुवाकानुक्रमणी में क्या कहता है।

ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्।
प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः ॥६॥

इन्हीं शाकलों में से एक व्यक्ति विशेष शाकल बना। आश्वलायन गृह्यसूत्र के विषय में एक ही बात विस्मय में डालती है अर्थात् उस के साथी शाङ्खायन के गृह्यसूत्र ६।१ में दो चार और नामों के साथ शाकल नाम का भी अभाव है।

(५) आश्वलायन श्रौतसूत्र १।१।१ के भाष्य में गार्ग्यनारायण ने जो "शाकलस्य बाष्कलस्य चाम्नायद्वयस्य" लिखा है, सो यह उस ने पूर्वप्रदर्शित बातों पर ध्यान न देकर ही लिखा है। अन्य नवीन लोगों के समान उस का मत भी प्रामाणिक वा सम्मानयोग्य नहीं है।

(६) विकृतिवल्ली की टीका में गङ्गाधर का प्रमाण।

अन्तिम प्रमाण गङ्गाधर का है। इसे हरिप्रसाद ने अपने वेदसर्वस्व के पृ० ४७ पर उद्धृत किया है।

शाकलस्य * शतं शिष्या नैष्ठिक ब्रह्मचारिणः ।
पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः ॥ १ ॥
शिशिरो वाष्कलः शाङ्खो वातस्यश्चैवाश्वलायनः ।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः ॥ २ ॥

उस ने इस का अर्थ किया है "शाकल ऋषि के एक सौ शिष्य थे ।" परन्तु यह श्लोक इस रूप में कहीं नहीं मिलता । विकृतिवल्ली का जो संस्करण गङ्गाधर की टीका-सहित सत्यव्रत द्वारा सम्पादित हुआ है उस में "शाकलस्य" के स्थान में "शाकल्यस्य," "शिशिरः" के स्थान में "शैशिरः," "शाङ्ख" के स्थान में "साङ्ख्या" पाठ मिलता है । उस ग्रन्थ में इस के आगे एक श्लोक ऐसा है ।

ऋग्वेदादि महाशाखा कल्पाख्या वेतरा मता ।
शाकलाः शौनकाः सर्वे कल्पं शाखां प्रचक्षते ॥ ३ ॥

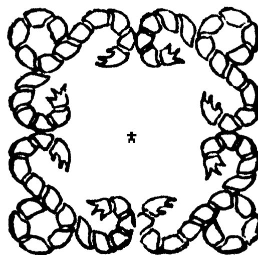
सत्यव्रत ने ऐतरेयालोचन पृ० १२७ पर प्रथम श्लोक में शाकल्य पाठ ही लिखा है ।

मद्रास की सूची सन् १९०४ Vol ii Vedic Literature के सं० ९५८, पृ० ६९४ पर यही श्लोक उद्धृत हैं । वहां भी "शाकल्य" और "शैशिरः" पाठ ही आया है । अतः हरिप्रसाद

---

*ब्रह्माण्ड पुराण का जो उद्धरण अष्टविकृतिविवृतिः में मधुसूदन सरस्वती ने दिया है वहां "शाकल्यस्य" पाठ है । पृ० (८) ।

का पाठ सर्वथा त्याज्य है। यद्यपि यह श्लोक पुराणादि में आये हैं और अधिक प्रामाणिक नहीं, तथापि यहां तो शाकल्य का नाम ही मिलता है। इस नाम से भी हमारा पूर्वोक्त कथन ही सिद्ध होता है, अर्थात् शाकल-संहिता शाकल्य के पदपाठ से कहाई जाने लगी थी, शाकल के प्रवचन से नहीं।



ऋग्वेद किस ने बनाया ?

पूर्व-पक्ष ।

(१) यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति का बनाया नहीं है। भिन्न २ कालों में पुराने गायकों ने कई भाव कविता रूप में कहे थे, वही पिछले कालों में एक ग्रन्थ के रूप में संगृहीत हुए हैं। उन्हें ही ऋग्वेद नाम दिया गया। इस का प्रमाण उन्हीं कवियों के अपने शब्दों में मिलता है। उन का उत्तरवर्त्ती आर्य्य इतिहास भी इसी बात की साक्षी देता है। उक्त दोनों प्रकार के प्रमाण क्रमशः यह हैं—

मन्त्रकृत् शब्द

(१) ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन्गिरः। ऋ० ९। ११४। २।

(२) शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन पुत्रका इत्यामन्त्रयत। तां० ब्रा० १३। ३। २४।

(३) देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः। ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे तान्होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्। ऐ० ब्रा० ६। १।

(४) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुर्माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम। तै० आ० ४। १। १।

(५) मन्त्रकृतो वृणीते । "यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत" इति विज्ञायते । आप० श्रौ० २४ । ५ । ६ ।

(६) अथ येषामुह मन्त्रकृतो न स्युः स पुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन् । आप० श्रौ० २४ । १० । १३ ।

(७) विज्ञायते च । "ऋषेर्ऋषेर्वा एता निर्मिता यत्सामिधेन्यः ।" आप० श्रौ० २४ । ११ । १० ।

(८) इत ऊर्द्ध्वान्मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते । "यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत" इति विज्ञायते । सत्या० श्रौ० २ । १ । ३ ।

(९) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः । आ० श्रौ० ८ । १४ ।

(१०) दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः । मा० गृ० सू० १ । ८ । २ ।

(११) दक्षिणतस्तिष्ठन्मन्त्रवान ब्राह्मण आचार्यायोदकाञ्जलिं पूरयेत । खा० गृ० सू० २ । ४ । १० ।

(१२) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः । अ० ३ । २ । ८९ । इस सूत्र के उदाहरण हैं सुकृत । कर्मकृत । पापकृत । मन्त्रकृत । पुण्यकृत ।

पूर्वोद्धृत वाक्यों को ही दृष्टि में रखते हुए मैकडानल और कीथ ने वैदिक इण्डैक्स में कहा है—

"Mantrakrit in the Rigveda and the Brahmanas denotes a poet as a "maker of Mantras."

उत्तर पक्ष ।

उपर्युक्त जितने स्थलों में मन्त्रकृत् शब्द आया है उसे देखते ही वेदादि शास्त्रों के साधारण पाठक कह उठते हैं कि पुराने काल में आर्य्य लोग मन्त्रों को किया वा बनाया करते थे। उदाहरणार्थ मकडानल और कीथ की सम्मति ही ले लीजिये। हम अपना कथन अन्तिम प्रमाण से प्रारम्भ करेंगे।

"सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः।" (अर्थ) स्वादिक उपपद हों तो कृञ धातु से भूतकाल में क्विप प्रत्यय हो। मन्त्रंकृतवान्, मन्त्रकृत्। "भूते।" ३।२।८४ से भूतकाल की अनुवृत्ति इस सूत्र में भी चली आती है। इस का प्रयोजन यह है कि स्वादिक उपपद हों तो भूतकाल ही में क्विप हो अन्यकाल में नहीं। अर्थात मन्त्रङ्करोति करिष्यति वा, यहां क्विप नहीं हुआ।

साधारण रूप से तो मन्त्रकृत का अर्थ है जिस ने मन्त्र=विचार को किया हो। पर पूर्वपक्षी कहता है ऋग्वेद और ब्राह्मणों में मन्त्रकृत का अर्थ मन्त्रों को बनाने वाला है। हमारा इस पर इतना ही कथन है कि इस शब्द का वास्तविक अर्थ जो हो सो तो आगे आयगा ही, पर यहां इतना सब को स्वीकार होना चाहिये कि ब्राह्मणों वाला अर्थ ही श्रौतसूत्रों में भी आया है। कारण कि पूर्वोक्त पांचवें प्रमाण में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में "इति विज्ञायते।" कह कर ब्राह्मण का पाठ उद्धृत किया गया है। उस में मन्त्रकृत् शब्द आया है। उसे ही श्रौतसूत्र वाले ने उसी अर्थ में प्रयुक्त कर लिया है।

अब यह निर्विवाद है कि श्रौतसूत्रों के बनने से बहुत काल पूर्व ही सब मन्त्र विद्यमान् थे और मैक्समूलर के अनुसार तो मन्त्रकाल व्यतीत हो चुका था, अतः यदि मन्त्रकृत् का अर्थ वही है जो पूर्वपक्षी ने किया है तो उसके मतानुसार सूत्रकाल में भी मन्त्रकृत् ऋषि हो जायेंगे। यह बात सर्वथा निस्सार है, अर्थहीन है, नहीं, नहीं विद्वानों की दृष्टि में कल्पनातीत है, हेय है। अतएव इस शब्द का कोई दूसरा अर्थ खोजना चाहिये जो इन स्थलों में सुसंगत हो सके।

सायण की सम्मति और उस की भूल।

"नम ऋषिभ्यः........."वाले तैत्तिरीयारण्य.. के वाक्य का सायण ने यह अर्थ किया है। (मूल वाक्य हमने पूर्वपक्ष के चतुर्थ प्रमाण में दे दिया है।)—

" मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः। यद्यप्यपौरुषेयेवेदे कर्त्तारो न सन्ति, तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत इत्युच्यन्ते।"

सायण के विचारानुसार कल्प के आदि में ही मन्त्रकृत ऋषि हुए थे। हम पहले दिखा चुके हैं कि श्रौतसूत्रकार कई यज्ञों में मन्त्रकृत् का वरण लिखते हैं। ये मन्त्रकृत् लोग उनके काल में और उन से उत्तरवर्त्ती काल में भी हो सकते हैं, अतएव कल्प के आदि में ही उनका मानना सायण की भारी भूल है। अन्यत्र अर्थात् पूर्वपक्ष के तीसरे प्रमाण में उद्धृत ऐतरेय ब्राह्मण के वचन का सायण ने यह अर्थ किया है—

"ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत्करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः।" ६। १. यहां पर सायण ने धात्वर्थ देकर आपत्ति को हटाना चाहा है। परन्तु क्या आपत्ति हट गई ? इसे पाठक स्वयं विचार लें। इस विचारानुसार तो सब युगों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि हो जावेंगे, और यह बात सायणीय सिद्धान्त-विरुद्ध है।

मन्त्रकृत् शब्द का सत्यार्थ।

मन्त्रकृत शब्द के तुल्य प्रत्ययमात्र में भेद रखने वाला मन्त्रकार शब्द है। इस का प्रयोग मानवगृह्यसूत्र में आया है। "दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः" १। ८। २ अर्थात दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख मन्त्रकार बैठे। यहां गृह्यसूत्र में इस शब्द का प्रयोग उन्हीं विचारों को लिये हुए है कि जिन के साथ यह श्रौतसूत्र और ब्राह्मणादि में आया है। इस को अन्यथा करना वैदिक वाङ्मय की शृङ्खला को तोड़ना होगा। सम्भव है कई विद्वान पूर्वलिखित परिणामों से भयभीत हो कर इस पर अपनी टीका टिप्पणी करें, पर जो विद्वान निष्पक्ष दृष्टि से हमारे लेख को पढ़ रहे होंगे, उन्हें निश्चय हो जायगा कि मन्त्रकृत् वा मन्त्रकार शब्द की प्रवृत्ति वेद से लेकर गृह्यसूत्रों के काल तक एकार्थ में हुई है। अब विचार करना होगा कि वह अर्थ क्या है ?

कार अन्त वाले अनेक शब्द।

साधारण भाषा में सुवर्णकार, चर्मकार, लोहकार आदि अनेक शब्द आते हैं। उन सब का यही अर्थ है सुवर्ण, चर्म,

लोह आदि पदार्थों को लेकर जो पुरुष उनका रूपान्तर कर देते हैं वही इन शब्दों से पुकारे जाते हैं। वे लोग सुवर्ण आदि को बनाते नहीं प्रत्युत विद्यमान सुवर्ण का रूप परिवर्तन कर देते हैं। इसी प्रकार ग्रन्थकार, चित्रकार, सूत्रकार आदि शब्द हैं। ये शब्द स्थूल रूप से साधारण पुरुष को यही ज्ञान देते हैं कि कोई नूतन-रचना की जाती है, परन्तु वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार में नूतन पदार्थ कोई है ही नहीं। सब पदार्थों में रूप का परिवर्तन मात्र किया जारहा है अतः उन २ नूतन प्रतीत होने वाले पदार्थों के कर्त्ता वस्तुतः उन २ पदार्थों का जोड़ तोड़ कर रहे होते हैं। इसी भाव को लेकर भगवान पतञ्जलि मुनि ने यह लिखा था—"करोतिरय-मभूतप्रादुर्भावे दृष्टः" ६।१।६ अर्थात् कृञ् धातु अभूत= अप्रसिद्ध के प्रादुर्भाव=प्रसिद्ध होने में (ग्रन्थों में प्रयुक्त) देखा जाता है। इसी प्रकार मन्त्रकार के सीधे अर्थ हैं (१) मन्त्र, तथा मन्त्रार्थ अध्यापक (२) मन्त्रों को लेकर विनियोग का बताने वाला (३) यज्ञादि में मन्त्रों के प्रयोजन का निर्देश करने वाला तथा (४) प्राचीन मन्त्रों को लेकर उन का नया जोड़ तोड़ कर उन का विशेष भाव बताने वाला वा (५) यज्ञार्थ विचारक।

उपर्युक्त अर्थों में ही मन्त्रकृत् शब्द

पूर्वपक्ष के सारे प्रमाणों में आया है। ताण्ड्य महा-ब्राह्मण वाले दूसरे प्रमाण के आगे कहा है "ते देवा अब्रु-

वर्चोपवाव पिता यो मन्त्रकृदिति " १३ । ३ । २५ । इसी का अर्थ मनुस्मृति में किया है " देवाश्चैतान्समेत्योचुः······ ······ " " ······ ···पिता भवति मन्त्रदः " २ । १५२, १५३ । यहां मन्त्रद=मन्त्रदेने अर्थात् पढ़ाने वाला ही मन्त्रकृत बताया गया है । इस अर्थ में किसी को आपत्ति न माननी चाहिये क्योंकि प्रकरण भी आचार्य=वेदाध्यापक की स्तुती की जा रहा है । मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रद कहा गया है । इसे हम स्पष्ट कर चुके हैं । इस पर भी यदि कोई मन्त्रद का अर्थ मन्त्र बनाने वाला करे तो उसे मनु २ । १४६ देखना चाहिये। वहां कहा है—

" उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥":

ब्रह्मद=वेदाध्यापक पिता अर्थात् आचार्य उत्पादक पिता से बड़ा है ।

क्विप् प्रत्ययान्त अन्य अनेक शब्द जो ऋग्वेदादि में आये हैं उन से भी यही परिणाम निकलता है । देखो वषट्कृति १।१४।८ सुकृततरः १।३१।४ तनूकृत् १ । ३१ । ६ ऋषिकृत् १।३१।१६ ज्योतिष्कृत् १।५०।४ पुरुकृत् १।५३।३ मासकृत् १ । १०५ । १८ पथिकृत् २ । २३ । ६ ब्रह्मकृतः ७ । ३२ । २ स्तेयकृत् ७ । १०४ । १० भद्रकृत् ८ । १४ । ११ पितृकृतते-रेभ्यः १० । ७६ । ५ । इन शब्दों में कहीं किसी गुण और

कहीं किसी द्रव्य के प्रकट करने का भाव मिलता है। यदि इस रूप से इन शब्दों का अर्थ न समझा जायगा तो पूर्वपक्ष वालों को इस बात का उत्तर देना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायगा कि किस प्रकार गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्रों के काल में भी मन्त्रकार विद्यमान हो सकते हैं।

द्वितीय पूर्वपक्ष। मन्त्र-द्रष्टा शब्द।

जिन ऋषियों का नाम मन्त्रों के ऊपर लिखा है वही उन मन्त्रों के रचने वाले हैं। आर्य्य लोगों ने वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये ही उन्हें मन्त्र-द्रष्टा नाम दे दिया है, वस्तुतः वे मन्त्रों के निर्माता थे। उन्हीं की स्तुतियों को एकत्र कर के पीछे से ऋग्वेद बनाया गया है।

उत्तर पक्ष।

जो पाठक आर्य्येतिहास को जानते वा समझते हैं वे कदापि ऐसा नहीं कहेंगे। हां, जो इतिहास को पढ़ते हैं पर फिर उसे काल्पनिक कह देते हैं, उन्हीं के मन में ऐसी शङ्काएं उत्पन्न होती हैं। जो जैन वा बौद्ध आर्य्य सभ्यता के अति निकट थे, जो इस सभ्यता के घोर शत्रु बने, जिन्होंने वेदादि शास्त्रों के उन्मूलन में कोई प्रयत्न न छोड़ा, जो पश्चिमीय स्कालरों की अपेक्षा अधिक संस्कृतज्ञ और सूक्ष्मदर्शी थे, वे भी तो वेदों का कर्त्ता कोई मनुष्य न बता सके। यदि वेदों का कर्त्ता कोई मनुष्य वा बहुत से मनुष्य होते तो पाश्चात्य लेखकों के अनुसार वैदिक काल से ७०० वर्ष पीछे होने वाले जैन अवश्य ही उन के नामादि लिख देते। और देखो आर्य्येतिहास क्या कहता है—

तै० सं० ३ । १ । ६

मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्सनाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्ये वसन्तं निरभजत्स आगच्छत्सो ऽब्रवीत् कथा मा निरभागिति न त्वा निरभाक्ष मित्यब्रवीदङ्गिरस इमे सत्रमासते ते ॥२६॥ सुवर्गं लोकं न प्रजानन्ति तेभ्य इदंब्राह्मणं ब्रूहि ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशवस्तांस्ते दास्यन्तीति तदेभ्योऽब्रवीत्ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशव आसन्तानस्मा अददुस्तं पशुभिश्चरन्तं यज्ञवास्तौ रुद्र आऽगच्छत्सो ब्रवीन् मम वा इमे पशव इत्यदुर्वै ॥३०॥

मै० सं० १ । ५ । ८

मनोर्वै दश जाया आसन् दशपुत्रा नवपुत्राष्टपुत्रा सप्तपुत्रा षट्पुत्रा पञ्चपुत्रा चतुष्पुत्रा त्रिपुत्रा द्विपुत्रैकपुत्रा ये नवासंस्तानेक उपसमक्राम ये ऽष्टौ तान्द्वौ ये सप्त तांस्त्रयो ये षट् तांश्चत्वारोऽथ वै पञ्चैव पञ्चाससता इमाः पञ्च दशत इमान्पञ्च निरभजन्यदेव किंच मनोः स्वमासीत्तस्मात्ते वै मनुमेवोपाधावन्मनो अनाथन्त तेभ्य एताः समिधः प्रायच्छत्ताभिर्वै ते तानिरदहन्नेताभिरेनान्परा भावयन्परा पाप्मानं भ्रातृव्यं भावयति य एवं विद्वानेताः समिध आदधाति ।

ऐ० ब्रा० ५ । १४

नाभानेदिष्ठं शंसति । नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजंत्सो ऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितारमित्यब्रुवं-स्तस्मात्थाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावो ऽववदितेत्येवाचक्षते । स पितरमेत्याब्रवीत् त्वां ह वाव मह्यं तता भाक्षुरिति तं पिता ऽब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथा अंगिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते । ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यंति । तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वर्यंतो दास्यंतीति ।

उपर्युक्त तैत्तिरीय संहिता और ऐतरेय ब्राह्मण वाली कथाएं ऐतिहासिक हैं । मैत्रायिणी वाली कथा में कुछ अलङ्कार मिला दिया गया है । यह उस की शैली से ही स्पष्ट ज्ञात होता है । हम यहां शुद्ध ऐतिहासिक कथाओं को लेंगे । इन दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं । दोनों ने मूल कथा का कुछ २ भाग लिया है । कथा क्योंकि अतिप्राचीन है अतएव

ब्राह्मणकार ने अपने वेद सम्बन्धी इतिहास को ले लिया है और संहिता के ब्राह्मण भाग में ब्राह्मणरूप के किसी वाक्य का कथन किया गया है।

दोनों कथाओं का मिश्रित सारांश।

'पिता की आज्ञा से मनु-पुत्रों ने पिता की सम्पत्ति बांट ली। उन का कनिष्ठ भ्राता नाभानेदिष्ठ अभी ब्रह्मचर्य वास ही कर रहा था। घर आकर उस ने पिता से अपना भाग मांगा। अन्य द्रव्य वस्तु न रहने पर पिता ने उसे दो सूक्त (तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय) और एक ब्राह्मण (तेभ्य इदं ब्राह्मणं ब्रूहि) दिया। वे सूक्त ऋग्वेद मण्डल दश के सुप्रसिद्ध ६१-६२ हैं। वह ब्राह्मण कौन सा था ? इस का लेख भट्ट-भास्करमिश्र ने अपने तैत्तिरीय संहिता भाष्य में किया है। उस का वचन है—" किं पुनस्तद्ब्राह्मणम्। उच्यते—'अवाप्यानि सन्तीति द्रप्सा अनुमन्त्रणीया अच्छावाक्यास्स्तोत्रियाश्शस्त्रियास्सत्यवदनश्रद्धाहोमादिनादिति'। " इस कथा के ध्यान पूर्वक देखने से पता लग गया होगा कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१ और ६२ सूक्त मनु को ज्ञात थे। उसी ने ये सूक्त अपने पुत्र को दिये। अब कात्यायन अपनी ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी में कहता है—"इदमित्था (१०। ६१) सप्ताधिका नाभानेदिष्ठो मानवो वैश्वदेवं तत्। " अर्थात् "इदमित्था " प्रतीक वाले ६१वें सूक्त का नाभानेदिष्ठ ऋषि है।

६२वें सूक्त का भी नाभानेदिष्ठ ही ऋषि है। इतने लेख से सिद्ध हो जाता है कि यद्यपि नाभानेदिष्ठ इन दोनों सूक्तों का ऋषि है, और ६१वें सूक्त के अठारहवें मन्त्र में उस का नाम भी आता है, तथापि वह इन सूक्तों का निर्माता नहीं। ये सूक्त तो उस से पहले भी विद्यमान थे।

(प्रश्न) ये सूक्त पिता अर्थात् मनु ने स्वयं बनाये होंगे और अपने पुत्र की प्रसन्नतार्थ उस का नाम बीच में डाल दिया होगा। पिता ने ही पुत्र की प्रसिद्धि के लिये इन सूक्तों को उस के नाम से विख्यात किया होगा।

(उत्तर) शोक, अत्यन्त शोक ! तुम लोग अपनी नास्तिकता से इतने गिर गये हो कि आर्य्यों सदृश सत्यवक्ता लोगों और फिर उन के परम सत्यनिष्ठ ऋषियों में भी अनृतवाद का दोष आरोपण करते हो। यदि तुम्हारे मतानुसार वेद के अन्य सूक्त द्रष्टा ऋषियों के ही निर्मित हैं तो इसी में आपत्ति आते देख कर ऐसी कल्पना करने लगे हो। पुरातन आर्य्य ऋषियों का कोई पिता और कोई पुत्र ऐसी बात को स्वीकार न कर सकता था।

नाभानेदिष्ठ का काल।

यह कथा अतिप्राचीन है। इतिहास में इस के काल की साक्षी इस मन्वन्तर के आरम्भ में मिलती है। वैवस्वत मनु के दश पुत्र थे। नव पुत्र और एक कन्या। नाभानेदिष्ठ उन सब में से छोटा था। महाभारत में इन दशों के नाम निम्न लिखित प्रकार से आये हैं।

वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥१८॥
कारुषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम् ।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥१९॥
नाभानेदिष्ठंदशमान्मनोः पुत्राम्प्रचक्षते ।
आदिपर्व अ० ९९ ।

मन्वन्तरों के विवाद को हम यहां न उठावेंगे । पर इतने लेख से इतना तो सुस्पष्ट हो जाता है कि नाभानेदिष्ठ आर्य्यों के इतिहासानुसार बहुत पुराने काल का व्यक्ति है । महाभारत रामायण, सूत्र, और ब्राह्मणों से भी बहुत पूर्वकालीन है । पाश्चात्य लेखकों द्वारा निश्चित काल्पनिक वैदिक-काल (१२०० पूर्व विक्रम) से सहस्रों वर्ष पहले का है । ऐसे मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने भी वेद के दो सूक्तों को अपने पूज्य पिता से प्राप्त किया, कि जिस ने सारा ऋग्वेद अपने पूर्वजों से पढ़ा था ।

एक और प्रमाण ।

तान्वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत् । एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र ऋ० ४।१९ .... । तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत । गो० ब्रा० ६ । १

---

१ कुम्भघोण संस्करण में "नाभागारिष्ट" पाठ छपा है । विष्णुपुराण अंश ३ में भी वैवस्वत मनु के पुत्रों का नामोल्लेख है । इस के एक मुम्बई संस्करण में नाभागोदिष्ट नाम छपा है । विलसन ने इस पुराण की अंग्रेज़ी टीका में शुद्ध नाम "नाभानेदिष्ठ" दिया है ।

ऐतरेय ब्राह्मण ६।१.८ में भी कुछ भेद के साथ यही वाक्य आया है। (अर्थ) इन सम्पात ऋचाओं को विश्वामित्र ने पहले देखा। वह ऋग्वेद ४।१.६ आदि सूक्त हैं। तत्पश्चात् विश्वामित्र से देखी हुई इन्हीं सम्पात ऋचाओं को वामदेव ने जन साधारण में फैला दिया। ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषि वामदेव है विश्वामित्र नहीं।

इस ब्राह्मण वचन से निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

(१) अनेक ऋचाएं वा सूक्त ऐसे हैं जिन्हें कई ऋषियों ने देखा। 'प्रथमम्' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि इस शब्द का प्रयोग करने से ब्राह्मणकार का यही अभिप्राय है कि वामदेव ने भी उन ऋचाओं को देखा था, पर सब से पूर्व विश्वामित्र ने ही उन्हें देखा।

(२) मन्त्रों के ऊपर जो ऋषि लिखे हैं उन का नाम मन्त्रार्थ द्रष्टा होने से ही नहीं लिखा गया, प्रत्युत सब से पहले मन्त्रार्थ प्रचारक होने से भी लिखा गया है।

ऋषि दयानन्द की सम्मति।

उपर्युक्त दोनों भावों से पूर्ण और कदाचित् ऐसे ही ब्राह्मण वाक्यों को ध्यान में रखते हुए ऋषि दयानन्द ने एक निरुक्त वाक्य का अर्थ किया था—"जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिस के पहले उस मन्त्र

का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है।" सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास।

इस प्रमाण से भी यही बात स्थिर होती है कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषि मन्त्रों के बनाने वाले न थे, प्रत्युत वेदमन्त्र तो उन से पहले भी विद्यमान थे। वे तो मन्त्रार्थ द्रष्टा तथा मन्त्रार्थाध्यापक वा प्रचारक थे। इसी भाव को लेकर वात्स्यायन ने कहा था, "आप्ता खलु साक्षात् कृतधर्म्मा।" न्याय० १।१।७ अर्थात् धर्म्म को साक्षात् किये हुए आप्त होते हैं। तथा च "य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च।" न्याय २।२।६७ अर्थात् जो ही आप्त वेद मन्त्रों के अर्थद्रष्टा और उन के प्रवचन-कर्त्ता हैं। अतएव मन्त्रद्रष्टाओं को मन्त्रार्थद्रष्टा और मन्त्रार्थ प्रवचन कर्त्ता जानना चाहिये, न कि मन्त्र बनाने वाले। जो इस से विपरीत जाने, समझो वह आर्ष साहित्य से अनभिज्ञ है और उस का कहा प्रमाण नहीं।

इस की पुष्टि में और विचार।

ऋग्वेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिन के कि दो, तीन अथवा चार ऋषि हैं। उदाहरणार्थ १।१०५, २।२६, ३।२३, ३।५४, ४।४३, ५।२४, ५।४७, ८।१४, ६।६८, १०।२४ आदि सूक्तों को देखो। अब क्या प्रत्येक ऋषिने एक

समान सूक्त बना लिया ? (पूर्वपक्षी) उन में से प्रत्येक ऋषि ने एक एक, दो दो मन्त्र बनाये होंगे, अतएव उन सब का नाम सूक्त के ऊपर लिख दिया गया।

(उत्तर) यह सर्वथा असत्य है। अन्य सूक्तों में जिस २ ऋषि ने जिस २ मन्त्र का अर्थ देखा, उस २ मन्त्र के साथ उस का नाम पृथक् रूप से सदा से लिखा चला आता है। उपर्युक्त सूक्तों में तो प्रत्येक ऋषि सूक्त के सारे २ मन्त्रों का द्रष्टा है। संसार भर में दो, तीन, चार पुरुष एक सी वाक्य रचना नहीं कर सकते अतः वे सब ऋषि मन्त्रार्थ देखने वाले तो भले ही माने जा सकते हैं, मन्त्र बनाने वाले नहीं। अब भी यदि कोई पुरुष उन्हीं सूक्तों को समाधि द्वारा शब्दब्रह्म को प्रत्यक्ष करके अर्थ प्रकाशित कर दें, और अन्य ऋषि विद्यमान हों तो वे उसे ऋषि स्वीकार कर के उस सूक्त के साथ उस का नाम लगा देंगे।

(पूर्वपक्षी) जहां सूक्तों पर दो, तीन अथवा चार ऋषि दिये हुए हैं वहां सन्देहार्थक 'वा' का प्रयोग किया गया है। इससे निश्चय होता है कि अनुक्रमणी बनने के काल में लोग कई सूक्तों के सम्बन्ध में इतिहास को भूल चुके थे। उन्हें ज्ञात न रहा था, कि निश्चय रूप से किस सूक्त का कौन द्रष्टा है ? अतएव उन्होंने 'वा' शब्द का प्रयोग करके यही दर्शाया है कि उन के काल तक ऐतिह्य की शृङ्खला टूट चुकी थी और संशय होने उत्पन्न हो गये थे।

(उत्तर) यह सत्य है कि 'वा' विचारणार्थ में आता है, पर अनुक्रमणीकार का अभिप्राय संन्देह से नहीं है। उस ने तो 'वा' समुच्चयार्थ में लिया है। यह अर्थ निरुक्त १।४ में आया है। सर्वानुक्रमणी में 'वा' एक परिभाषा है और कात्यायन ने अपने परिभाषाप्रकरण में इस का प्रयोजन स्पष्ट कर दिया है, उस का सूत्र है—"ऋषिश्चान्यस्माद्दृषेरवाविशिष्टः" १२।१। अर्थात् 'वा' से पिछले ऋषि की एक सूक्त में अनुवृत्ति आती है। वेदाभ्यास में ऋषि आदि का जानना परमावश्यक है। स्वयं कात्यायन ने कहा है "न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिः।" १।१। नहीं ऋषि आदि के ज्ञानविना श्रौत, स्मार्त कर्म की सिद्धि। अतएव श्रौत स्मार्त कर्म में सूक्तों का प्रयोग करते हुए जहां कई ऋषि कहे हों वहां किसी एक का ज्ञान पर्याप्त है। हां, इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये कात्यायन के लिये यह आवश्यक था कि जितने भी ऋषियों ने किसी एक सूक्त का अर्थ देखा वह उन सब के नाम दे देता। कात्यायन का 'वा' कर्म-प्रयोग में किसी एक ऋषि के सम्बन्ध में विकल्प करने से है, उन के अर्थद्रष्टा होने के सन्देह को प्रकट करने के लिये नहीं।

यदि इस पर भी कोई अपना हठ न छोड़े तो वह ऋग्वेद ६।६८ को देखे। उस के ऋषि के सम्बन्ध में कात्यायन का वचन है "अम्बरीष ऋजिश्वाच।" और आर्षानुक्रमणी में शौनक का भी श्लोक है—

अम्बरीषोऽभि नःसूक्ते मान्धातृतनयस्तथा ।
भारद्वाज ऋजिश्वा च तावेतौसहितावृषी ॥२५॥

इन दोनों स्थलों में 'च' निश्चय ही समुच्चयार्थक है। पुनश्च ऋग्वेद ८।१.४ के अनुक्रमणी में दो ऋषि कहे हैं "गौषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ।" अर्थात् कण्वगोत्री गोषूक्ति और अश्वसूक्ति। ऋग्वेद मण्डल आठ सूक्त चौदह के प्रथम और पञ्चम मन्त्र सामवेद पूर्वार्चिक प्र० २।३ के ७ और ८ हैं। इन के ऋषि भी यही दोनों हैं। इस मे आर्षेयब्राह्मण २।१.२२ की साक्षी भी विद्यमान् है। "गौषूक्तं चाश्वसूक्तं च।" अर्थात् इन दो ऋषियों ने यह दो मन्त्र देखे।

अनुक्रमणी की एक और साक्षी।

ऋग्वेद १।१.०० में कुल उन्नीस मन्त्र हैं। उन के पांच ऋषि हैं। नाम हैं उन के (१) ऋज्राश्व (२) अम्बरीष (३) सहदेव (४) भयमान (५) सुराधा। ये सब महाराज वृषागिर के पुत्र थे। ये सब नाम इसी सूक्त के १.७ वें मन्त्र में आते हैं।

एतत्त्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभिगृणान्ति राधः। ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः ॥ १७ ॥

इस मन्त्र से कई परिणाम निकल सकते हैं। उन में से दो निम्नलिखित हैं।

(१) यदि ये ऋषि इस सूक्त के बनाने वाले थे तो उन में से प्रत्येक ने कुछ २ मन्त्र बनाये होंगे। पुनः सब ने सम्मति

करके एक मन्त्र में अपने नाम अपने पिता के पते सहित दे दिये। भ्राता होने के कारण सब ने यही निश्चय किया होगा कि हम सब ही इस सूक्त के ऋषि बनें, अन्यथा पांच पुरुषों का एक ही वाक्य का रचना असम्भव है। एक की रचना में चार सम्मति तो दे सकते हैं।

(२) वे भ्राता सदा ऐसा नहीं करते थे। पूर्वोद्धृत ९।९८ के अम्बरीष, ऋजिश्वा दो ऋषि हैं। यह अम्बरीष भी वृषागिर का पुत्र है। यहां इस का साथी ऋजिश्वा है। कोई ऋज्राश्व और ऋजिश्वा को एक न समझे क्योंकि मन्त्रों में दोनों शब्द भिन्न २ हैं।

इन परिणामों की परीक्षा।

ऋज्राश्व, भयमान आदि शब्दों को वेद में अन्यत्र देख कर निश्चय हो जाता है कि ये कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं। "ऋज्राश्वं तं पितान्धं चकार।" ऋ० १।११६।१६ उस ऋज्राश्व को पिता ने अन्ध किया। यह अर्थ है जो पूर्वपक्षी इस मन्त्र का करेगा। अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि क्या मन्त्र-द्रष्टा पुत्र को वा ऐसा योग्य बनने वाले को एक आर्य्यमहाराज कभी ऐसा दण्ड देगा। और यदि वह पुत्र अपराधी था तो वह पापी होने से इतना योग्य न हो सकता था। यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि मन्त्रों में ये व्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं हैं। यह आगे प्रमाणपूर्वक लिखा जायगा।

ये दोनों परिणाम अन्य सब इतिहासों की साक्षी में कि वेद तो वृषागिर आदि सम्राटों से बहुत पूर्व विद्यमान् थे, गिर जाते हैं। तब एक तीसरा परिणाम निकलता है: किसी वृषागिर राजर्षि ने अपने पुत्रों का ऋज्राश्व आदि क्रमशः नाम रक्खा। बड़े होने पर उन में से प्रत्येक इस सूक्त का द्रष्टा बना अथवा उन पांच वार्षागिरों ने मन्त्रार्थ देखने के पीछे अपने ये भी नाम रख लिये। यही बात पीछे इतिहास में सुरक्षित की गई।

एक सूक्त के सौ ऋषि।

ऋग्वेद ९।६६ के सम्बन्ध में अनुक्रमणी का वचन है– "पवस्व शतं वैखानसाः" अर्थात् 'पवस्व' प्रतीक वाले इस सूक्त के सौ वैखानस ऋषि हैं। इस सूक्त में कुल तीस मन्त्र हैं। अब यदि अनुक्रमणी सत्य है और जब कि सौ ऋषि सारे सूक्त के ही ऋषि हैं तो इस से सीधा परिणाम यही निकलता है कि किसी विखनस मुनि के शिष्य परम्परा में आने वाले वैखानस नाम के ऋषि भिन्न २ समयों पर इस सूक्त के अर्थ-द्रष्टा हो चुके हैं। इन वैखानस नामक वानप्रस्थों का वर्णन मनुस्मृति आदि अनेक आर्षग्रन्थों में आ चुका है। आर्षानुक्रमणी में भी इस विषय पर ऐसा ही लेख है—

असिद्धगोत्रास्तु पवस्वसूक्तं वैखानसा नाम शतं विदुस्ते ॥१६॥

सम्भव है यहां 'शतं' शब्द बहु संख्या वाचक हो। अस्तु, हमारे अभिप्राय में कोई भेद नहीं आता। सौ व्यक्तियों का सदृश वाक्य-रचना करना असम्भव है। तथाच दो चार ने

वाक्य-रचना की हो और सौ या बहुतों ने उस में सम्मति दी हो, यह इतिहास से किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं होता।

एक ही मन्त्र के भिन्न २ ऋषि।

जहां ऋग्वेद में एक २ सूक्त के दो वा अधिक ऋषि हैं, वहां भिन्न २ मण्डलों और सूक्तों में आने वाले मन्त्रसमूहों वा एक २ सदृश मन्त्र के भी भिन्न २ ऋषि हैं। हम ऐसे कतिपय उदाहरण ब्लूमफील्डरचित 'ऋग्वेद रैपीटीशन्स' के द्वितीय भाग के आरम्भिक पृष्ठों में से देते हैं।

१।२३।२१-२३ मेधातिथि.	१०।९ ७-९ त्रिशिरा तथा सिन्धुद्वीप.
३।४।८-११ विश्वामित्र.	७।२।८-११ वसिष्ठ.
६।४७।१२, १३ गर्ग.	१०।१३१।६, ७ सुकीर्ति.
१।१००।१९ ऋज्राश्व आदि भ्राता.	१।१०२।११ कुत्स.
३।१।२३ विश्वामित्र.	३।१५।७ उत्कील.
१।१३।९ मेधातिथि.	५।५।[illegible] [illegible]श्रुत.

यहां प्रश्न होता है कि क्या भिन्न २ ऋषियों ने सदृश-मन्त्र-रचना की? हम तो कहेंगे नहीं, क्योंकि ऋषि मन्त्र-रचयिता नहीं थे, प्रत्युत मन्त्रार्थ-द्रष्टा थे। पर पूर्वपक्षी कहता है—

"पुनरुक्तियों द्वारा प्रदर्शित अनुक्रमणी-विवरणों की अप्रमाणता"—

सर्वानुक्रमणी के विवरण जो कात्यायन की बताई जाती है, सब से अधिक पुनरुक्तियों के विषय में अपने प्रमाण की सन्देहपरता प्रकट करते हैं।

जैसा सामान्यतया ज्ञात है उनका सूक्तों के रचयिताओं (authors) का इतिवृत्त वैदिक कवियों की प्रधान-कुलों के सम्बन्ध में सत्यऐतिह्य के अल्प कोश पर कुछ अंशों में आश्रित है। परन्तु उनके अधिक निश्चित विवरण अधिकांश में ओछी कल्पनाएं हो जाती हैं। विशेषतया, **अनुक्रमणी का सुदृढ़ संकल्प होता है कि प्रशान्त निरपेक्षता से एक ही ऋचा के दो या अधिक रचयिता बताए जायें,** अथवा दो या अधिक देवता कहे जायें, चाहे, वह ऋचा एक ही मण्डल या दूसरे मण्डल में किसी सम्बन्ध में ही आई हो। आप्रीमन्त्र ३।४।८–११ = ७।२।८–११ तीसरे मण्डल में विश्वामित्रगाथिन के कहे गये हैं; सातवें मण्डल में वसिष्ठ मैत्रावरुणि के। और ऐसा ही अनेक स्थलों में मिलता है, जैसा कि इस ग्रन्थ (ऋग्वेद रैपीटीशन्स) के मूल भाग में देखा जा सकता है, जहां प्रत्येक ऋचा के साथ अनुक्रमणी का विवरण दिया गया है।

ऋचाओं में कहे हुए रचयिता–नामों का समालोचकदृष्टि से महत्व—

ऐसी दशा में अनुक्रमणी के दिखावटी ऐतिहासिक विवरण पुनरुक्तियों के काल या सापेक्ष मूल्य के निर्णय में सहायता नहीं देते। दूसरी ओर पुनरुक्त वाक्यों में आये हुए रचयिताओं के नाम कई बार उन के सापेक्ष काल पर प्रकाश डालते हैं। ६।२५।६ का उत्तरार्ध 'भारद्वाजाः' नाम का वर्णन करता है; यह शब्द १०।८६।१७ के अकेले विश्वामित्र सूक्त में गौण रूप से 'विश्वामित्राः' में बदला गया है।" (ऋग्वेद रैपीटीशन्स पृ० ६३४)

यह है सम्मति जो एक प्रसिद्ध पाताल देशस्थ प्रोफेसर अनुक्रमणी विवरणों के विषय में रखता है। हमने इस का लम्बा उद्धरण इस लिये दिया है कि इस की परीक्षा भले प्रकार हो सके। ऐसी ही सम्मति समस्त पाश्चात्य वेद-विषयक लेखकों

की है। इसका कारण भी है। अध्यात्म-विज्ञान-हीन पश्चिमीय लेखक जब एक २ वेदमन्त्र के अनेक ऋषि देखता है तो उस की बुद्धि में और कुछ आ भी नहीं सकता। ब्लूमफील्ड ने इन वाक्यों में हमारे विषय से सम्बन्ध रखने वाली निम्नलिखित बातें कही हैं—

(१) सर्वानुक्रमणी के प्रमाण होने में बहुत सन्देह है, पर सब से अधिक सन्देह पुनरुक्तियों के विवरण विषय में है।

(२) अनुक्रमणी में सूक्तों के रचयिता दिये हैं।

(३) वैदिक कवियों की प्रधान कुलों के सम्बन्ध में कात्यायन का लेख कुछ २ सत्य ऐतिह्य पर आश्रित है।

(४) कात्यायन के अधिक निश्चित विवरण बाल-कल्पनाएं हैं।

(५) अनुक्रमणीकार कात्यायन जानबूझ कर एक ही ऋचा के दो वा अधिक रचयिता बताता है।

(६) आप्रीमन्त्र ३।४।८-११=७।२।८-११ तीसरे मण्डल में विश्वामित्रगाथिन के कहे गये हैं, सातवें मण्डल में वासिष्ठ मैत्रावरुणि के।

(७) वेद-मन्त्रों में भी मन्त्र-रचयिताओं के नाम हैं।

(८) जहां वे पुनरुक्त वाक्यों में आते हैं वहां मन्त्रों के काल-निरूपण करने में सहायता देते हैं, जैसे ६।२५।६ और

१०।८६।१७ में भारद्वाजाः और विश्वामित्राः क्रमशः नाम आये हैं। अब इन पर विचार—

(१) हम इस बात को सहर्ष स्वीकार करते यदि किन्हीं प्रबल प्रमाणों के आधार पर कही गई होती। सम्प्रति तो यह लेखक की निराधार कल्पना का उल्लेखमात्र है। सम्भव है सर्वानुक्रमणी में पाठभेदों के कारण वा अबोध-लेखक-प्रमाद से कोई बात अशुद्ध होगई हो, या कोई लेख छूट गया हो, यद्यपि इस के लिये भी अधिक स्थान नहीं है, तथापि ऋषि परम्परा के विषय में हम निश्चित हैं कि सर्वानुक्रमणी के कर्त्ता कात्यायन ने सारा इतिहास ब्राह्मणग्रन्थों से प्राप्त किया था, जिन में कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के काल से ही इतिहास की अटूट शृङ्खला चली आती थी।

सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन श्रौतसूत्रकर्त्ता वा वैयाकरण हो या न हो, सर्वानुक्रमणी की भाषा में उस ने कुछ वैदिक प्रयोग क्यों न किये हों, तो भी ब्राह्मणों को उद्धृत करने के कारण वह ब्राह्मणों से पीछे का ही है। उस ने ऋषियों का इतिहास ब्राह्मणों से लिया है। जहां कहीं उस इतिहास में मत-भेद था, वह उस ने स्वयं दर्शा दिया है। यथा "मोषु (ऋ० ७।३२) सप्ताधिकासौदासैरग्नौ प्रक्षिप्यमाणः शक्तिरंसं प्रगाथमारेभे। सोऽर्धर्चे उक्तेऽदह्यत। तं पुत्रोक्तं वसिष्ठः समापयतेति शाट्यायनकम्। वसिष्ठस्य हतपुत्रस्यार्षमिति तांडकम्।"

'अर्थात् ७।३२ में सताईस ऋचा हैं। सुदास के पुत्रों से अग्नि में फेंका गया शक्ति अन्त्य प्रगाथ=बृहति छन्द वाली ऋचाओं को देखता हुआ। वह आधी ऋचा के कहने पर जल गया। पुत्र से कही हुई उस आधी ऋचा को पिता वसिष्ठ ने समाप्त किया। यह शाट्यायनक मानते हैं। हतपुत्र वासिष्ठ ही इन का ऋषि है यह ताण्डिन मानते हैं।'

कात्यायन के उपर्युक्त वचन पर षड्गुरुशिष्य ने एक श्लोकबद्ध इतिहास दिया है। जब तक उस इतिहास वा कात्यायन के वचन का मूल न मिले हम इस पर कुछ न कहेंगे। हमारा प्रयोजन इस वचन के उद्धृत करने से यही है कि कात्यायन को जहां कहीं ब्राह्मणग्रन्थों के कथन में मतभेद मिला, वहां उस ने उसे निःसंकोच दे दिया। यदि अन्यत्र भी कहीं ऐसा होता तो वह उसे अवश्य प्रकट करता। इस स्थल पर भी कोई ऐसा मतभेद नहीं है। इसी प्रकरण में हम पूर्व लिख चुके हैं कि कुछ सम्पात ऋचाएं विश्वामित्र ने देखी थीं। उनका प्रचार वामदेव ने कर दिया। अतएव उनका ऋषि भी वामदेव ही हुआ। शक्ति के जलने आदि के सम्बन्ध में अभी हम कुछ नहीं कहते, पर सम्भव है पिता वसिष्ठ और पुत्र शक्ति ने दो भिन्न स्थानों में एक ही काल में इन ऋचाओं का अर्थ दर्शाया हो। एक देश वाले शाट्यायनकों ने एक बात लिखी हो और अन्य देशीय ताण्डिनों ने दूसरी। कात्यायन ने दोनों बातें लिख कर विकल्प दिखा दिया है।

यदि आज ऋग्वेदीय सब ब्राह्मण विद्यमान् होते तो कदाचित् अनुक्रमणी की ऋषियों सम्बन्धी सब बातें हम उन में दिखा सकते। फिर भी ऐतरेय ब्राह्मण के पाठक जानते हैं कि सर्वानुक्रमणी की बहुत सी बातें वहां से ली गई हैं। कौषीतकी ब्राह्मण भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री रखता है।

सर्वानुक्रमणी के आधार ब्राह्मणों की प्राचीनता।

ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण कितने प्राचीन हैं, इस विषय पर चिरकाल से विवाद चला आता है। काशिकाकार ज्यादित्य, आदि का मत है कि शतपथ ऐतरेयादि ब्राह्मणों से नवीन है। भाष्यकार पतञ्जलि, दयानन्द सरस्वति और बूहलर की सम्मति में ऐतरेय, शतपथादि सब ब्राह्मण प्रायः समकालीन हैं। दोनों का आधार महाभाष्य का एक वार्त्तिक है।

पाणिनीय सूत्र "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु।" ४।३।१०५ पर भाष्यकारने एक वार्त्तिक दिया है—"याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्" इस पर दयानन्द सरस्वती अष्टाध्यायी की वृत्ति में लिखते हैं—"ज्यादित्यो जानाति याज्ञवल्क्यानि पुराणप्रोक्तानि न सन्ति। तदिदं को मर्षयेत्। यदा याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि, तदैव तदैव शाट्यायनादिभिरपि।" अर्थात् भाल्लवि, ऐतरेय, शाट्यायन, शतपथादि ब्राह्मणों का समकाल में प्रवचन हुआ है। बूहलर ने कहा है—

"I understand Katyayana to say that the Brahmanas proclaimed by Yajnavalkya, etc, ...are not,

......modern works, but are as old as those which Panini had in view. (महाभाष्य, भाग द्वितीय, भूमिका पृ० ११)

इस विचार को अब प्रायः विद्वान् मानते हैं, अतः दोनों पक्षों की युक्तियां नहीं दी गईं।

जब सब ब्राह्मण लगभग समकालीन हो जायें तो प्रश्न उठता है कि उनका मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के काल से कितना अन्तर है ? मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य लेखक एक स्वर से कह रहे हैं कि 'ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से बहुत पिछले काल के हैं। ब्राह्मणों के निर्माणकाल में तो ऋषि-प्रदर्शित अर्थ भी बहुत सा भूल चुका था। ऋषियों के इतिहास का ज्ञान लुप्त हो रहा था, इत्यादि।' क्या यह सत्य है ? हम कहेंगे, नहीं। देखो ब्राह्मण में क्या आया है—जब याज्ञवल्क्य गार्गी के दूसरे प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर दे चुके तो वह वाचक्नवी पुनः बोली कि "कस्मिन्नन्वकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ?" अर्थात् आकाश किस में ओत और प्रोत है ? तब वे ब्रह्मनिष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्य "स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलम।" शतपथ १४।६।७,८ बोले, हे गार्गि ! ब्रह्मवेत्ता उसे ही अक्षर कहते हैं (जिस में आकाशादि सब कुछ ओत प्रोत है) जो अस्थूल इत्यादि है।

यजुर्वेदीय-शतपथब्राह्मण में गार्गी और याज्ञवल्क्य का जो सम्भाषण ऊपर दिया गया है, उसका मूल यजुर्वेद के एक मन्त्र में मिलता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्रविश्वं भवत्येकनीडम् । तस्मिन्निदᳬ सं च विचैति सर्वᳬ स ओतः प्रोतश्च विभूःप्रजासु ॥ ३२।८॥

इस मन्त्र के अन्तिम शब्द ही ब्राह्मण के कथन में मिलते हैं। यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का ऋषि स्वयम्भू ब्रह्म कहा गया है। "सर्वमेधं ब्रह्मस्वयंभ्वैक्षत।" अर्थात् सर्वमेध यज्ञ सम्बन्धी इन मन्त्रों को ब्रह्म स्वयम्भू ने देखा। यह स्वयम्भू ब्रह्म शतपथ ब्राह्मण की ऋषि परम्परा का मूल है। उसी से यह विद्या क्रमशः याज्ञवल्क्य तक पहुंची। याज्ञवल्क्य ही शतपथ ब्राह्मण का प्रवचनकर्त्ता माना जाता है। अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के प्रवचनकर्त्ता के पास वैदिक ऋषियों के काल से वैदिक ऐतिह्य की अटूट शृङ्खला गुरुपरम्परा द्वारा चली आरही थी। ऐसी स्थिती में सर्वानुक्रमणियों की साक्षी को सन्देहास्पद कहना वैदिक साहित्य को पक्षपातान्ध होकर भ्रष्ट करने की चेष्टा करना है।

(२) ब्लूमफील्ड का कथन है कि 'सर्वानुक्रमणी में सूक्तों के रचयिता (आथर्स) दिये हैं।' हमें तो इस का कोई प्रमाण मिला नहीं, सम्भव है उनकी दृष्टि में आया हो। सर्वानुक्रमणी के एक वाक्य से साधारण पाठकों को भ्रान्ति हो सकती है, "यस्य वाक्यं स ऋषिः।" २।४॥ अर्थात् जिस का (दृष्ट) वाक्य हो वह ऋषि होता है। 'दृष्ट' हम ने इस लिये प्रयुक्त

किया है कि स्वयं कात्यायन इस का यही अर्थ करता है—"गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत।" गृत्समद ने दूसरा मण्डल देखा। वाक्यार्थ कर्त्ता के अभिप्रायानुकूल होना चाहिये, अतः पूर्व वाक्य में दृष्ट शब्द अभिप्रेत है। कात्यायन ने अन्य बातों के समान यह बात भी ब्राह्मणों से ली है—

"स (प्रजापतिः) एतामृचमपश्यदापो रेवतीरिति।" ऐ० ब्रा० २।१६ अर्थात् १०।३०।१२ को प्रजापति ने देखा। "एतत् कवषः सूक्तमपश्यत्पञ्चदशर्चं प्रदेवत्रा।" अर्थात् कवष ने प्रदेवत्रा (१०।३०) पन्द्रह ऋचा वाला सूक्त देखा। अन्यच्च "जनिष्ठा उग्रः......गौरिवीतिर्ह वै शाक्त्य......एतत्सूक्तमपश्यत्।" ऐ० ब्रा० ३।१९ अर्थात् १०।७३ सूक्त को शक्ति के पुत्र गौरिवीति ने देखा। कात्यायनादि सर्वानुक्रमणीकार और महीदासादि ब्राह्मण-प्रवचन-कर्त्ता सर्वत्र वेद मन्त्रों का देखा जाना ही मानते हैं। महीदास जी ने तो वेद मन्त्रों को छोड़ कर किसी शाखा के मन्त्र के सम्बन्ध में भी यही लिखा है—"एतां बृहस्पतिर्द्विपदामपश्यन् न यारोषाति न प्रभदिति।" ऐ० ब्रा० ४।१० अर्थात् बृहस्पति ने इस द्विपदा को देखा। यास्क भी "ऋषिर्दर्शनात्।" २।११ ऋषि देखने से होता है, यही कहता है। उस ने किसी पुरातन ब्राह्मण की भी यही सम्मति दी है।

पतञ्जलि ने भी यही लिखा है—"न हिच्छन्दांसि क्रियन्ते।" महा० ४।३।१०१ अर्थात् छन्द=वेद और शाखाओं के मन्त्र

बनाये नहीं जाते। पाणिनी ने भी "दृष्टं साम" ४।२।७ से यही सिद्धान्त प्रकट किया है। इन सब प्रमाणों से यही ज्ञात होता है कि कात्यायन कालीन लेखक और उन से बहुत पूर्व के प्रवचन कर्त्ता मन्त्रों के आर्थर्स=रचयिता नहीं मानते थे। वे ऋषियों को द्रष्टा मानते थे। साम्प्रतिक लेखक जो इच्छा हो मानें पर उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे अपने विचारों को पुराने लोगों के नाम मढ़ें।

(३) 'वैदिक कवियों की प्रधान कुलों के सम्बन्ध में कात्यायन का लेख कुछ सत्य ऐतिह्य पर आश्रित है।' पाश्चात्य लेखक २-७ मण्डलों को कुल-मण्डल कहते हैं, कारण कि वे 'चिर-काल तक पृथक्रूपेण कुलों में ही परम्परा से चले आये' (मैकडानल, हिस्टरी आफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० ४१)। इन ऋषियों के सम्बन्ध में कात्यायन के पास पूर्ण ऐतिह्य था। पूर्व इस बात के अनेक प्रमाण दिये गये हैं। मैकडानल का कहना कि ये मण्डल चिरकाल तक विभिन्न कुलों में चले आये सर्वथा अशुद्ध है। वामदेव और विश्वामित्र समकालीन थे। हम पूर्व दिखा चुके हैं कि वामदेव ने विश्वामित्र द्रष्ट ऋचाओं का प्रचार किया, अतः उस समय में भी एक कुल वाला दूसरों के मन्त्रों को फैलाता था।

पाश्चात्य लेखक स्वयं ही इस भ्रम में नहीं पड़े प्रत्युत उन्हों ने कई दूसरों को भी इस भ्रान्ति में डाल दिया है कि २–७ मण्डल बहुत पुराने काल के हैं और प्रथम तथा दशम मण्डल

उन की अपेक्षा बहुत नवीन हैं। जब हम सर्वानुक्रमणी की साक्षी प्रामाणिक सिद्ध कर चुके तो अब उस से निम्नपरिणाम निःसङ्कोच निकालते हैं।

(१) कुशिक	अङ्गिरस	ब्रह्मा।
(२) गाधी	रहूगण	वसिष्ठ।
(३) विश्वामित्र	गोतम	शक्ति।
(४) मधुच्छन्दा	वामदेव	पराशर।
(५) जेता	बृहदुकथ्य	व्यास।

भिन्न २ कुलों के यह पांच २ नाम वंश-क्रम से लिखे गये हैं। इनके कतिपय सभासद तीसरे, चौथे, और सातवें मण्डल के द्रष्टा हुए हैं। इन्हीं के पुत्र, पौत्र प्रपौत्र वा पिता पितामहा आदि प्रथम और दशम मण्डल के सूक्तों के भी द्रष्टा हैं। तब कौन कह सकता है कि २-७ मण्डल १,१० मण्डलों से बहुत पहले के हैं। प्रतीत होता है ऐसे ही प्रमाणों से भयभीत होकर पाश्चात्यों ने अनेकों निस्सार कल्पनाएं की हैं। यदि ऋषिवंशों का शुद्ध इतिहास कात्यायनादि को विदित न होता, तो वह पिता, पुत्र के क्रम से उन का उल्लेख कभी न करता। ब्लूमफील्ड के वचन "कुछ २ सत्य ऐतिह्य पर आश्रित है।" बता रहे हैं कि उसे भी इतिहास का सर्वथा अस्वीकार बड़ा कठिन प्रतीत हो रहा था। यदि वह अधिक विचार करता तो सम्भवतः वह भी सत्य परिणाम पर पहुंच जाता।

(४) 'कात्यायन के अधिक निश्चित विवरण' का हमें अभिप्राय ही विदित नहीं होता। क्या उस के कुछ कम निश्चित विवरण भी हैं? उस की दृष्टि में तो हो नहीं सकते, क्योंकि उस ने सन्देह प्रकट नहीं किया, और आप की दृष्टि में हैं तो उस पर कोई दोष नहीं। वस्तुतः यह आप का ही निर्मूलभ्रम है।

(५) 'अनुक्रमणीकार जानबूझ कर एक ही ऋचा के दो वा अधिक रचयिता बताता है।' हम दिखा चुके हैं कि अनुक्रमणी का आधार ब्राह्मणग्रन्थ हैं और ब्राह्मणों में ऐतिह्य की अटूट शृङ्खला चली आ रही है। कात्यायन तो प्राचीन ऐतिह्य का संग्रह करने वाला है। यद्यपि आज सैंकड़ों ब्राह्मणों में से कुछ ही मिलते हैं तो भी यत्न करने पर अनुक्रमणी के मूल उन में ढूण्ढे जा सकते हैं। अतएव अधिक से अधिक ब्राह्मणों के प्रवचनकर्त्ताओं पर ब्लूमफील्ड सन्देह कर सकता था। ऋ० १।९१।३ का ऋषि गोतम राहूगण है। यही ऋचा ९।८८।८ है। वहां ऋषि उशन काव्य है। इस ब्लूमफील्ड कल्पित पुनरुक्ति की हम सूक्ष्म परीक्षा करनी चाहते हैं।

(क) यदि किसी आरम्भिक काल में मन्त्र एक ही था, तो न्यूनातिन्यून यह सब स्वीकार करेंगे कि कात्यायन, नहीं, नहीं शाकल्य के काल से भी बहुत पूर्व यह ऋग्वेद के दोनों मण्डलों में मिलता था। अब यदि उपर्युक्त १।९१ और ९।८८ के ऋषियों की कल्पना कात्यायन की है तो ब्लूमफील्ड आदि लेखकों के अनुसार वेद में ऋषियों के नाम आते हैं। वे ऋषि

व्यक्तिविशेष थे । हमारे समान वे इन शब्दों को यौगिक नहीं मानते । अस्तु, वेद का स्वाध्याय करने वाले जानते हैं कि एक ही ऋषि के सूक्त यदि वह किसी मण्डल के बहुत सूक्तों का द्रष्टा है, प्रायः साथ २ आते हैं। ऋग्वेद ९।८७,८९ दोनों सूक्तों का द्रष्टा (ब्लूमफील्ड के अनुसार कर्ता) उशन काव्य है । इस में कोई सन्देह नहीं कर सकता । एक मन्त्र देखो—

ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन

९।८७।३ हमारे अनुसार इन मन्त्रों का ऋषि बन कर किसी व्यक्ति ने अपना नाम उशन काव्य रखा, और पाश्चात्यों के अनुसार मन्त्र-निर्माता ने अपना नाम मन्त्र में दिया। कुछ भी हो यही उशन काव्य ९।८७,८८,८९ का ऋषि है । यदि वही सूक्त-निर्माता था तो उस ने यह मन्त्र स्वयं बनाया, या किसी अन्य के बनाये हुए को अपने काव्य में मिला लिया। दोनों अवस्थाओं में वह इतना प्राचीन है कि यदि उस ने यह मन्त्र स्वयं न बनाया था तो उसे इस का निर्माता ज्ञात था। यदि वह जानता था तो उस की कुल परम्परा द्वारा यह बात अन्य भी जान सकते थे। ऐसी अवस्था में इतिहास की माला टूट न सकती थी ।

पूर्वोक्त युक्तियां ही गोतम के सम्बन्ध में जो ऋ० १।९१ का ऋषि है, घट सकती हैं। उस का नाम भी (पाश्चात्य विचारानुसार) १।८५।११ में आया है। यही गोतम ऋ० १।७४-९३ का ऋषि है।

(ख) यदि गोतम ने उशन से मन्त्र लिया वा उशन ने गोतम से तो भी इतिहास सुरक्षित रह सकता था और एक स्थान में जो कि पुनरुक्त होता मूल ऋषि का नाम आ जाता ।

(ग) यदि कहो मन्त्र इन दोनों से भी पुराना था, और वे मन्त्र-निर्माता का नाम भूल चुके थे, These old blessings presumably contain prehistoric stock which passed on from ancient times to the Rishis of the RV. (ब्लूमफील्ड, रैपीटीशन्स, पृ० १७) तो इस में मूलहीन कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि आप के समान यदि कोई मन्त्रों में मन्त्र-निर्माताओं का नाम मान ले तो उसे विवश मानना पड़ेगा कि प्रायः सारा ऋग्वेद समकालीन है, तथाच मन्त्र-रचयिताओं से बहुत पहले मन्त्र न थे । छठे मण्डल का प्रधान ऋषि बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज है । आप लोगों के अनुसार वह स्वयं अपना नाम मन्त्रों में लेता है, अथवा उस के सम्बन्धी ही उस का नाम लेते हैं, जैसा मैकडानल ने ओलडनबर्ग की साक्षी पर लिखा है "Judging by the tone of the references to भरद्वाज he can hardly be deemed to have been a contemporary of any of the hymns (वैदिक इण्डैक्स पृ० ६७) ।

"भरद्वाजे नृवत इन्द्र" ६।१७।१५। आप लोगों के अनुसार इसी भरद्वाज को कुत्स आङ्गिरस ऋषि स्मरण करता है । " याभिर्विप्रं प्र भारद्वाजमावतम् ।" १।११२।१३। यही कुत्स

अपना वर्णन भी इसी सूक्त में करता है "याभिः कुत्सं श्रुतर्य।" १।११२।९। इसी का वर्णन भरद्वाज करता है "प्रतत्ते अद्या करणं-कृतं भूत्कुत्सं।" ६।१८।१३। ऐसे अन्य बीसियों प्रमाण हैं जो वेद-काल-निरूपण प्रकरण में दिये जायेंगे।

इतने लेख से ज्ञात हो जाता है कि ब्लूमफील्ड आदि लेखक जिन बातों को अभी सिद्ध करना था, उन्हीं को साधन मान कर अपनी कल्पनाएं कर रहे हैं। सत्य तो यह है कि ऐसे ही तर्कों का विचार करके उनका अपना हृदय हिल जाता होगा, अतः उन्हों ने ऊपर से बड़ा युक्तियुक्त पर वस्तुतः सारहीन मार्ग पकड़ा।

(६) यह छठी बात एक रूप से पांचवीं के प्रमाण में थी। इस का खण्डन उसी में आ गया है। अधिक लिखने से क्या?

(७) 'वेद-मन्त्रों में मन्त्र-रचयिताओं के नाम हैं' इस का खण्डन 'वेदार्थ-प्रकार' प्रकरण में आगे करेंगे।

(८) 'जहां वे (नाम) पुनरुक्त वाक्यों में आते हैं वहां मन्त्रों के काल-निरूपण करने में सहायता देते हैं। जैसे—

एवा न स्पृधः समजा समत्स्विन्द्र रारन्धि मिथतीरदेवी।
,, ते वयमिन्द्र भुंजतीनां विद्याम सुमतीनां नवानाम्।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो भारद्वाजा उत तइन्द्र नूनम्॥
,, ,, ,, विश्वामित्रा ,, ,, ,, ॥

यह मन्त्र भी सारे तो एक दूसरे से मिलते नहीं, एक पद

को छोड़ के पिछले अर्धभाग में मिलते हैं। पूर्व प्रदर्शित साक्षियों की विद्यमानता में इन से भी कोई सन्तोषजनक कल्पना नहीं की जा सकती। जो ब्लूमफील्ड ने सिद्ध किया है कि दशम मण्डल की ऋचा पीछे की है, यह उस का पूर्व-संस्कार मात्र है जो मिथ्या भाषा-विज्ञान द्वारा उस के मन पर पड़ चुका है।

ऋग्वेद में प्राचीन और नवीन ऋषियों का वर्णन।

जे, मूर ने १८६१ ई० में "ओरिजिनल संस्कृत टैक्सट्स" भाग तृतीय में अनेक ऋचाएं देकर यह दर्शाने का यत्न किया था कि ऋग्वेद में नये और पुराने ऋषियों का वर्णन मिलता है। इस से यह परिणाम निकाला गया था कि मन्त्र-निर्माता ऋषि लोग स्वयं ही थे, और ऐसी ऋचाओं में वे अपने पूर्वजों का स्मरण करते थे। यह स्मरण कई स्थलों में नाम लेकर किया गया है और कई स्थलों में सामन्यरूप से।

इस का उत्तर संवत् १९३३ वि० में दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक मन्त्र पर विवाद चला कर स्थालीपुलाकन्याय से दिया था। वह मन्त्र

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ऋ० १।१।२

सुप्रसिद्ध है। जे मूर ने इस मन्त्र का प्रमाण देते हुए सायणीय-भाष्य का कुछ पाठ उद्धृत किया है। सायणानुसार पुरातन ऋषि भृगु, अङ्गिरा आदि हैं और नूतन मधुच्छन्दा आदि। वस्तुतः सायण-प्रदर्शित यही भ्रान्ति थी कि जिस में

न केवल सायण ही उलझ गया प्रत्युत जिससे सारा पाश्चात्य वेदाध्यायन ही पलट गया। राथ आदि स्कालर कहते रहें कि हम सायण से विभिन्न और अधिक सत्यार्थ करते हैं, पर इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि हरिवर्षीय लेखों पर संस्कार सायण ही का है।

अस्तु, प्रकृत विषय यह है कि 'पूर्व' और 'नूतन' पदों का क्या अर्थ है ? यह पद निस्सन्देह सापेक्ष हैं। सापेक्ष और निरपेक्ष का ज्ञान वेद में भी पाया जाता है—

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः। ऋ० १।१६४।१९ 'जो निम्नगति पदार्थ हैं उन्हीं को परे पहुंचे हुए कहते हैं। जो परे गये पदार्थ हैं उन्हें ही नीचे जाने वाले कहते हैं।' भावार्थ यह है कि एक ही पदार्थ स्थानभेद से दो नामों से पुकारा जाता है। इसी प्रकार किसी एक की अपेक्षा दूसरा पूर्व है और किसी अन्य की अपेक्षा वही नूतन है। जहां 'पूर्व' शब्द काल की अपेक्षा को जताता है वहां इस के साथ ही पूर्णता की सीमा को भी प्रकाशित करता है। इस का संक्षिप्त व्याख्यान मेरी बनाई 'ऋग्मन्त्रव्याख्या' पृ० १७ पर देखो। वहां मनु के प्रमाण से बताया गया है कि बालक अङ्गिरा भी अपने बड़ों का पिता, उन से बड़ा, स्थविर और उन की अपेक्षा पूर्व था। ऋग्वेद में ही और प्रमाण देखो—

न ते पूर्वे मघवन्नापरासो न वीर्यं१ नूतनः कश्चनाप॥

५।४२।६

'हे श्रेष्ठ-धन-युक्त विद्वन् वा राजन् ! तेरे पराक्रम को न पहले, न पिछले न नया कोई भी व्याप्त होता है' (हैथरीचड, पहुंचा, ग्रिफिथ) । ग्रिफिथ ने "अपरासः" का अर्थ भूतकाल में ही रखा है, अर्थात् पूर्वों से कुछ पिछले । यह अर्थ युक्त नहीं । इस मन्त्र में 'पूर्व' की तुलना में 'अपर' पद आया है । अतः अर्थ है इस का 'पिछले'। ऐसी अवस्था में 'आप' पद व्यत्यय से वर्त्तमानकाल का हो जायगा । मन्त्र का अभिप्राय यह है कि राजा ऐसा होना चाहिये जिसे राजनीति विशारद=पूर्व, राजनीति पढ़ने वाले=नूतन, तथा पढ़ना आरम्भ करने वाले=अपर, व्याप्त न कर सकें । इसी प्रकार—

प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य । ऋ० ७।५३।२

'(हे विद्वानों!) नई से नई स्तुतियों से सत्य के स्थान में पूर्वज पितरों को करो।' यहां भी पूर्व का अर्थ विद्यापूर्ण=अधीत ही है । यदि इस शब्द के अर्थ का सम्बन्ध भूतकालस्थ जनों से होता तो 'कृणुध्वम्' 'करो' क्रिया जो वर्त्तमान में है, न आती। इस लिये वेद में 'पूर्व' 'ऋषि' आदि पदों के एकत्र आने से यह नहीं समझा जा सकता कि इन स्थूलों में किन्हीं भूतकालस्थ व्यक्तियों का वर्णन है । एक और प्रमाण देकर हम इस विषय की समाप्ति करेंगे ।

दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः । ऋ० १।१३९।९

"मेरे जन्म को दध्यङ्, पूर्व अङ्गिरा, प्रियमेध, कण्व, अत्रि और मनु जानते हैं, वे मेरे पूर्व के, (यह) मनु (है) जानते हैं।" हम ने दध्यङ् आदि पदों का अर्थ नहीं किया। हमारा अनुवाद तो इन्हें यौगिक मान कर होगा, परन्तु जो पूर्वपत्ती है वह इन्हें पुरुषविशेष मानता है। इस मन्त्र में आये 'विदुः' क्रियापद का अर्थ मूर ने "नो=जानते हैं" किया है। ग्रिफिथ ने 'न्यू' अर्थात् जानते थे' किया है। ग्रिफिथ को सत्यार्थ में आपत्ति प्रतीत हुई, अतः उस ने विना प्रमाण अर्थ बदला है। ग्रिफिथादि पाश्चात्य लेखक व्यत्यय तो मानते ही नहीं, इस लिये उसे ऐसा अर्थ करने का अधिकार किस ने दिया? इस का अर्थ वर्त्तमान काल में ही घट सकता है। ऐसा होने पर यह कहना कि 'पूर्व अङ्गिरा आदि ऋषि मेरे जन्म को जानते हैं,' सिद्ध कर रहा है कि वेद की परिभाषा में ये शब्द यौगिक हैं और पूर्व शब्द का 'ज्ञानपूर्ण' भी अर्थ है। इस प्रकार वेद में इन शब्दों से यह कदापि निश्चय नहीं हो सकता कि मन्त्रों में काल की दृष्टि से ही इन का प्रयोग है।

मन्त्र-रचना में वैदिक ऋषियों की साची।

जेमूर ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में लिखा है—

"ऋग्वेद-वचन जिन में ऋषि अपने आप को मन्त्र-निर्माता बताते हैं।"

"इस विभाग में, प्रथमतः, मैं उन वचनों को उद्धृत करना

चाहता हूं, जिन में ऋषि स्पष्टतया अपने को मन्त्र-रचियता कहते हैं। वे कोई ऐसा विचार प्रकट नहीं करते, जिस से विदित हो कि उन्हें किसी अलौकिक (सुपरनैचूरल) कारण से सहायता या स्फूर्त्ति हुई। तब, मैं कुछ और वचन उपस्थित करूंगा················जिन से पाठक को विचार होगा कि ऋषि मन्त्रों को अपने ही मनों की उपज समझते थे।

"मैं उन उद्धरणों को, जिन में ऋषि स्पष्टतया रचयिता होने का कथन करते हैं, उस विशेष 'क्रिया' के अनुसार क्रम दूंगा, जिस के द्वारा कि यह भाव प्रकट किया गया है। क्रियाएं ये हैं (१) 'कृ'=बनाना, (२) 'तक्ष'=तरतीब देना, (३) जन्=जन्म देना या उत्पन्न करना।"

मूर के उत्तर-लेखक जो पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण करते हैं, इस विषय पर निरन्तर इन्ही प्रमाणों को उद्धृत करते आये हैं। मूर ने स्वयं बहुत मन्त्र दिये हैं। क्योंकि सब मन्त्रों में मूल बात एक सी ही है, अतएव हम कतिपय मन्त्र देकर ही इन मन्त्रों को विषद करने की चेष्टा करेंगे।

पूर्वोक्त तीन धातुओं के साथ मूर ने 'स्तोम', 'ब्रह्म', 'वाह', 'मन्द्रा,' 'मन्म,' और 'वाक्' आदि शब्द दिये हैं। प्रथम प्रमाण में 'स्तोम' शब्द आया है।

उस मन्त्र में आये स्तोम पद का क्या अर्थ है? मूर ने 'हिम'=सूक्त अर्थ किया है। ग्रिफिथ 'सौङ्ग ऑफ़ प्रेज़'=स्तुति-

गीत अर्थ करता है। मैकडानल ने 'वैदिक इण्डैक्स' में ग्रिफिथ वाला अर्थ प्रामाणिक माना है। वस्तुतः "स्तौति येन स स्तोमः।" जिस से स्तुति करे वही स्तोम, यही इस पद का मूल अर्थ है। इसी मूलार्थ में प्रशंसितव्यवहार, स्तुति-कर्म आदि अर्थ भी आ जाते हैं। जब एक पाश्चात्य लेखक वेद में—

ऋषि=मेधातिथिं काण्व, देवता=ऋभवः।

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया। अकारि रत्नधातमः॥
ऋ० १।२०।१

ऐसा मन्त्र पढ़ता है तो उस के हृदय में यह बात पहले से जमी होती है कि वैदिक-कवि बहुत पुरातन अर्द्धसभ्य काल में जो स्व-निर्मित गीत गाया करते थे, उन्हीं का संग्रह-मात्र यह ऋग्वेद है। इस स्थिति में ऐसे वेद-वचनों का वह यही अर्थ करता है कि वैदिक-ऋषि स्वयं अपने को इन गीतों का कर्त्ता बताते हैं। हमारा संस्कार उन से विपरीत है। हम आरम्भ से ही मानते चले आये हैं कि मनुष्य के आत्मा में 'अहंभाव' का ही केवल स्वाभाविक ज्ञान है। प्रकृति वा उसका कार्य दृश्य जगत् ज्ञान-शून्य है। फिर जो संसार में ज्ञान दिखाई देता है, तो उस का निमित्त चाहे पुरुष ही हो, पर मूल चेतन ज्ञानमय परमात्मा के विना अन्य कोई नहीं। जब ऐसा भाव मन में आता है तो इन वाक्यों का अर्थ ही और हो जाता है। वह अर्थ कल्पित नहीं। तदनुसार इस मन्त्र का भाव होगा—दिव्य

गुणयुक्त जन्म के लिये यह स्तुति-व्यवहार मेधावियों से (किया गया, मूर) किया जाता है' इत्यादि। मूर ने अर्थ किया है "वह धन-प्रदाता 'हिम'=स्तोम दैवी जाति के लिये मुनियों द्वारा मुख से बनाया गया है।" ग्रिफिथ अनुवाद करता है—"दैवी कुल के लिये यह स्तुति-गीत जो असन्त धन देता है, कवियों से ओष्ठों द्वारा बनाया गया था।"

सत्यार्थ का अन्वेषण।

हम ने दोनों संस्कारों की उपज मन्त्रार्थरूप में पूर्व धर दी है। अब विचार है अर्थ की सत्यता पर। इस समय सब संस्कार परे छोड़ दिये जायेंगे और पूर्ण-विचार-दृष्टि से सत्य तत्त्व की गवेषणा होगी। सर्वानुक्रमणी के अनुसार जिस की साक्षी पूर्व-प्रमाणित हो चुकी है, इस मन्त्र का ऋषि मेधातिथि काण्व है। देवता है इस का "ऋभवः"। पाश्चात्य पक्षानुसार मेधातिथि कहता है कि 'यह स्तोम=स्तुति-गीत=मन्त्र कवियों से बनाया गया।' वे कवि=गायक कौन हैं? पाश्चात्य लेखकों के अनुसार वे ऋभु हैं। ग्रिफिथ ने विलसन की सम्मति उद्धृत करते हुए माना है कि 'शुभ कर्म्मों द्वारा वे देवता हो गये।' हम पूर्व-वत् पुनः पूछते हैं कि क्या तीन ऋभु भ्राता एक ही मन्त्र रचने लगे थे, और वही मन्त्र फिर मेधातिथि काण्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ? जब उन के अनुसार 'अयं' सर्वनाम का प्रयोग मेधातिथि का है तो ऋभु इस के=रचयिता न रहे।

और यदि ऋभु रचयिता हैं, जो कि असम्भव है तो 'अकारि' क्रिया का प्रयोग भूतकाल वाला होने से यह सत्य नहीं। पुनश्च मेधातिथि भी इनका बनाने वाला नहीं हो सकता क्योंकि "विप्रेभिः...अकारि" पद पड़े हुए हैं। इतनी परीक्षा के पश्चात् पाठक समझ जायेंगे कि पाश्चात्य अर्थ भद्दा शब्दार्थ होते हुए भी सर्वथा त्याज्य है। यदि कोई कहे कि "अयं स्तोमः" इस सारे सूक्त को जताता है तो उसे कृपया सारा सूक्त पढ़ जाना चाहिये जिस में पदे २ पूर्वोक्त आपत्तियां आती हैं। और स्तोम का सूक्त अर्थ हेरफेर से ही होगा।

(प्रश्न) "अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षु"। ऋ० १०।८०।७ "The Ribhus fabricated Prayer for Agni" (ग्रिफिथ) 'अर्थात् ऋभुओं ने अग्नि के लिये प्रार्थना विस्तृत की।' इस मन्त्र में तो स्पष्ट लिखा है कि ऋभुओं ने प्रार्थनाएं=ब्रह्म=मन्त्र बनाये।

(उत्तर) जो अशुद्धि पहले मन्त्रार्थ में की जा रही है वही यहां पर है, अतः तुम अर्थ नहीं समझते; ऋभु का अर्थ है मेधावी। और अग्नि परमात्मा का भी नाम है। इस प्रकार मन्त्रार्थ है—'परमात्मा के लिये मेधावी जन ब्रह्म=वेद का विस्तार करते हैं।' इतने लेख से समझ में आ जाता है कि हमारा संस्कार चाहे कैसा हो, पर युक्ति-युक्त अर्थ भी हमारा ही है। इस और अन्य ऐसे मन्त्रों में कहीं पर भी स्तोम (='सूक्त', मूर) अथवा वेदमन्त्रों के ऋषियों

द्वारा रचे जाने की कथा नहीं है । हां, स्तोमों=स्तुतियों को वे
किया, हम भी करते हैं ।

'ब्रह्म' पद ।

मूर ने 'ब्रह्म' पद का सर्वत्र 'प्रार्थना' अर्थ किया है। यही अर्थ ग्रिफिथ भी स्वीकार करता है। कई स्थलों पर वह इस का 'हिम' सूक्त अर्थ भी करता है। इस अर्थ के करने में इन लोगों के पास कोई प्रमाण तो है नहीं, हां, निज कल्पना भले ही करें। इस के विपरीत ब्रह्म शब्द के यह अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। (१) वेद (२) ईश्वर (३) धन (४) उदक (५) अन्न (६) वाणी इत्यादि। इस प्रकरण में जो मन्त्र मूर ने प्रमाण-रूपेण उद्धृत किये हैं उन्हीं पर यदि ऋषि दयानन्द का भाष्य देखा जाय तो प्रकरण ही दूसरा हो जाता है। वाद अन्त में 'वेदार्थ-प्रकार' पर होगा। यदि पाश्चात्य प्रकार सत्य है, तो उन के सिद्धान्त सत्य, अन्यथा मिथ्या होंगे। यहीं विचार कर हम एक २ शब्द पर संक्षिप्त लेख को यहीं बन्द करते हैं। इस पर विस्तृत विचार आगे करेंगे।

——:o:——

ऋग्वेद शब्दार्थसम्बन्धरूप से किसी मनुष्य की कृति नहीं।

जब ऋग्वेद कोई शाखा-विशेष न रहा, जब इस के निर्माता ऋषि लोग सिद्ध न हो सके, जब ऋग्वेद के सम्बन्ध में आज तक बौद्धों, जैनों और आर्य्यों के पास कोई इतिहास न रहा कि यह किसी मनुष्य की कृति है, जब ऋग्वेद पाश्चात्य लेखकों के अनुसार ऐतिहासिक काल से भी पूर्व का ग्रन्थ हो गया तो प्रश्न होता है कि ऋग्वेद में ही इस के बनने आदि के विषय में कुछ लिखा है वा नहीं ? मूर ने निस्सन्देह कई मन्त्र देकर यह भी दर्शाया है कि अनेक मन्त्रों में ऋषियों को दैवीसत्ता से सम्बन्ध रखने वाला कहा गया है। हम मूर के इन अर्थों को भी नहीं मानते, इसलिये किसी और ही रूप से हम इस विचार को उठाना चाहते हैं। ऋग्वेद में एक मन्त्र है—

अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ ४।२६।१

ग्रिफिथ का अर्थ है—" मैं पहले 'मनु' था, मैं 'सूर्य' था, मैं हूं 'कक्षीवान्' ऋषि, पवित्र गायक, आर्जुनि-पुत्र 'कुत्स' को वश में (मास्टर) करता हूं। मैं कवि 'उशन' हूं। मुझे देखो।" इस और अगली दो ऋचाओं के सम्बन्ध में ग्रिफिथ ने यह टिप्पणी दी है " इन्द्र पहली तीन ऋचाओं

का कहने वाला है, यद्यपि यह अस्पष्ट है कि " मैं 'कक्षीवान्' और 'उशन' हूं, कहने से उस का क्या अभिप्राय है। कदाचित् वह अपने को सारी सत्ता के साथ एक करना चाहता है।"

पाठक देख लीजिये, भद्दे शाब्दिक अनुवाद का बेढङ्गापन अनुवादक को स्वयं ही खटक गया है। उस के अर्थानुसार पूर्वोक्त ऋचा में पांच व्यक्ति-नाम क्रमशः आये हैं (१) मनु (२) सूर्य (३) कक्षीवान् (४) कुत्स (५) उशन। इन में से पहले दो नामों के साथ भूतकालस्थ क्रिया का सम्बन्ध है और पिछले तीन वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इन मन्त्रों पर सर्वानुक्रमणी का वचन भी देख लीजिये। " अहं मनुः सप्ताद्याभिस्तिसृभि रिन्द्रमिवात्मान मृषि स्तुष्टा वेन्द्रो वात्मानं.........।" इसी वचन को देकर सायन कहता है— " आत्मानमिन्द्ररूपेण वामदेवः स्तुतवान। यद्वा इन्द्र एवात्मानं स्तुतवान। अतो वामदेववाक्यपक्षे वामदेव ऋषिरिन्द्रो देवता। इन्द्रवाक्यपक्षे त्विन्द्र ऋषिः परमात्मा देवता।" अर्थात् 'वामदेव ने इन्द्ररूप से अपनी स्तुति की। अथवा इन्द्र ने ही अपनी स्तुति की। अतः वामदेव के पक्ष में वामदेव ऋषि और इन्द्र देवता है। इन्द्र के पक्ष में इन्द्र ऋषि और परमात्मा देवता है।' ग्रिफिथ ने भी सायण का ही भाव नकल किया है " दि डियरी ऑफ़ दि फ़र्स्ट थ्री स्टैंज़ास इज़ सैड टु बी आईदर इन्द्र ऑर परमात्मा।"

हम ने अनुक्रमणी को वारम्वार पढ़ा है, पर हमें यह नहीं मिला कि अनुक्रमणीवचन से सायण ने दो पक्षों में दो देवता कैसे निकाले। बृहद्देवता में भी कोई विशेष नहीं कहा--

"अहमित्यात्मसंस्तावस्तृचे स्तुतिरिवास्य हि ॥ ४।१.३५॥

यहां ' अस्य ' सर्वनाम इन्द्र का द्योतक है। भाव यही है कि इन्द्र के समान अपनी स्तुति में यह वाक्य है। यदि कोई सायण का भक्त "इन्द्रमिवात्मान मृषि स्तुष्टावेन्द्रो आत्मानम।" का यह अर्थ करे कि इन्द्र ने आत्मा=परमात्मा की स्तुति की तो हम कहेंगे कि यहां दो बार ' आत्मन् ' शब्द आया है। प्रकरण को विचारने से सत्यार्थ दोनों स्थलों पर एक ही प्रतीत होता है। यदि सायणानुसार इन्द्र ने परमात्मा की स्तुति की तो वामदेव ने भी उसी की स्तुति की। सायण का यह लिखना ही निरर्थक है कि ' इन्द्ररूप ' से वामदेव ने आत्मस्तुति की। अन्यत "ऐन्द्रोलब आत्मानं तुष्टाव १०.११९।" और "पौलोमी शच्यात्मानं तुष्टाव।" १०।१५९ दोनों स्थलों पर 'आत्मानम्' का अर्थ सायण ने भी ' स्वात्मानम ' ही किया है।

सायन के भ्रम का कारण।

अवैदिक-देवता-वाद का अनुसरण करते हुए सायण के लिए यह कठिन था कि वह ' इन्द्र ' शब्द का यहां अर्थ ही ईश्वर लेता। वह तो इन्द्र को एक देवता-विशेष माने बैठा था,

अतः उसे पूर्व-प्रदर्शित मिथ्याकल्पना करनी पड़ी। सर्वानुक्रमणी के वाक्य का सत्य अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आदि में इसी वा अगले दो मन्त्रों द्वारा इन्द्र=परमात्मा ने अपनी स्तुति की अर्थात् अपने यथार्थ गुण जताये, वैसे ही वामदेव ऋषि भी इन मन्त्रों के अर्थों को देख कर अपने आत्मा के गुण, कर्म, स्वभावों का जानने वाला हुआ, और इस मन्त्र द्वारा उस ने इन्द्र अर्थात् परमात्मा के ही दिव्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया। देवता इन मन्त्रों का चाहे इन्द्र कह लो, चाहे आत्मस्तुति, बात एक ही है।

अब हम ग्रिफिथ के अर्थ की परीक्षा करेंगे। वह कहता है 'इन्द्र पहली तीन ऋचाओं का कहने वाला है।' अर्थात् कुछ भी हो, उस के मतानुसार इन्द्र देहधारी मनुष्य है। वह इन्द्र वामदेव से निश्चय ही पूर्वकाल का होगा। उसी ने यह मन्त्र कहा। अब यदि वह इन्द्र अनृतवादी नहीं, तो—

(१) 'मैं पुराकाल में मनु था, मैं सूर्य था।' इस कथन का क्या अर्थ है? 'अफोरटाईम'='पुराकाल में मैं मनु था।' यही बताता है कि इन्द्र इस जन्म की बात नहीं करता। ग्रिफिथ ने 'अभवम्' क्रिया का अर्थ 'पुराकाल में था' किया है। तो क्या इन्द्र किसी पहले जन्म का वर्णन कर रहा है? ग्रिफिथादि पाश्चात्य लेखक वेद के काल में अभी सिद्धान्तरूप से पुनर्जन्म का कहीं चिन्हचक्र भी नहीं पाते। तो फिर इन्द्र के कथन का

कुछ अर्थ भी है या नहीं ? क्या एक ही जन्म में वह अपने नाम बदल रहा था ?

ग्रिफिथ यहां चुप है । वह क्या, अन्य पाश्चात्य लेखक भी यहां मौन ही साधेंगे या इसे पुराने कवियों की मिथ्या-कल्पना ही कहेंगे ।

(२) 'मैं कक्षीवान्, कुत्स, उशन हूं ।' इस का पुनः क्या प्रयोजन है ? ग्रिफिथ ने यहां स्पष्ट कह दिया है कि उसे इस का भाव पता नहीं लगा । उस ने सम्भावना की है कि कदाचित् इन्द्र सब सत्ता के साथ अपनी एकता बताना चाहता है । ऐसी सम्भावना पर फिर विवाद होगा कि क्या वैदिक काल में यह विचार कहीं था भी या नहीं ? क्या यही एकता बताते २ ग्रिफिथानुसार वह तीसरे मन्त्र में कहेगा कि ' आई डिमॉलिश्ड शम्बरस् फोर्ट्स ।' मैं ने शम्बर के दुर्ग नष्ट किये। कहां 'सर्वसत्ता से एकता' प्रदर्शन और कहां यह नाश ?

इन मन्त्रों के अनुवाद में ग्रिफिथ की भारी भ्रांति।

प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद में 'अभवम्' क्रिया है और द्वितीय मन्त्र के प्रथमपाद में 'अददाम्' क्रिया है । दोनों लङ्लकार में हैं । पर व्यत्यय आदियों को न मानने वाले, कई भोले जनों के विचार में अक्षरानुवादक पाश्चात्य लेखक की कृति देखो ! 'अभवम्' का अर्थ करता है 'पुराकाल में था' और 'अददाम्' का अर्थ करता है "मैंने दी है !" एक ही लकार में साथ २

दो क्रियाएं, और इतना भिन्न अर्थ ? यही है इस अर्थ की निष्पन्नता।

यही नहीं, पाश्चात्य लेखकों के लिये तो और भी बड़ी कठिनाई है। वे शम्बर को देहधारी व्यक्ति मानते हैं। दिवोदास के साथ उस के युद्धों का वर्णन वे ऋग्वेद में पढ़ते हैं। यह घटनाएं उन के काल्पनिक काल-क्रमानुसार बहुत पहले की हैं, जब कि कुत्स और कक्षीवान् आदि ऋषि उत्पन्न भी न हुए थे, फिर प्रथम मन्त्र में इतनी पुरानी घटनाओं वाले इन्द्र के साथ उनका उल्लेख कैसे ? यदि वे कह दें कि मन्त्र वामदेव ने ही बनाये थे तो वे उस का शम्बर के साथ युद्ध कैसे सिद्ध करेंगे। वे समझते होंगे कि जैसे बुद्धि-शून्य जन आज इन का अनुकरण करके इन की मिथ्या-कल्पनाओं को मान रहे हैं। वैसे ही वामदेव के काल के लोग वामदेव आदि की गप्पें मान लेते होंगे। अन्यथा पाश्चात्य लेखक ऐसी सारहीन बातें क्यों लिखते ?

सायण का अर्थ।

सायण ने अर्थारम्भ में लिखा है "इदमादिमन्त्रत्रयेण गर्भे वसन्वामदेव उत्पन्नतत्त्वज्ञानः सन् सार्वात्म्यं स्वानुभवं मन्वादिरूपेण प्रदर्शयन्नाह। अहं वामदेव इन्द्रो वा मनुरभवम्। सर्वस्य मन्ता प्रजापतिरस्मि। अहमेव सूर्यश्च सर्वस्य प्रेरकः सविता चास्मि।...कक्षीवान् दीर्घतमसः पुत्र एतत्संज्ञक ऋषिरप्यहमेवास्मि।" यहां पर सायण ने निम्नलिखित भूलें की हैं।

(१) मनु और सविता शब्दों को यौगिक बना कर तो कुछ भला अर्थ किया था, पर आगे चल कर कक्षीवान् आदि पदों को ऋषियों का नाम बना कर उसने पूर्वापर विरुद्ध अर्थ किया है। पहले दो शब्दों पर सायण इस लिये घबराया प्रतीत होता है कि आर्य्येतिहास में सूर्य का पुत्र मनु कहा है। यहां मन्त्र में मनु नाम पहले था और सूर्य शब्द पीछे। इस उलझ से बचने के लिये उस ने इन शब्दों का तो सामान्य धात्वर्थ कर दिया, पर अगली बात वैसी ही रखी।

(२) सायण के अनुसार इन्द्र मनुष्य था वा देवता ? मनुष्य तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि तीसरे मन्त्र में वह यह कहता है कि 'मैंने शम्बर के नगर नष्ट किये।' उस के अनुसार वेद में अन्यत्र यह वर्णन देवता का ही है। यदि इन्द्र देवता है तो जब उस ने यह मन्त्र बोला होगा तो क्या मनु, कक्षी-वान् आदि ऋषि हो चुके थे ? दूसरे मन्त्र में 'आर्य्याय' के साथ सायण ने 'मनवे' जोड़ दिया है अर्थात् " मैं ने आर्य्य मनु को भूमि दी।" यह मन्वन्तर के आदि में हुआ होगा। तब कुत्स आदि न थे। फिर प्रथम मन्त्र में क्रिया का प्रयोग वर्त्तमानकाल में है, और इन्द्र कहता है कि मैं कुत्स हूं। यह समस्या तो वैसी ही उलझी रही। जो कोई अज्ञान से यह कह दें कि सब मन्वन्त्रों में वही व्यक्ति पुनः २ आते हैं और देवता सर्वज्ञ होने से सब कुछ जानते हैं तो इस में कोई प्रमाण नहीं। वैसे भी यह असम्भव है क्योंकि ऐसा होने पर किसी की मुक्ति ही न होगी।

(३) जब सायणानुसार यह ऋचाएं वामदेव ने गर्भ में बोली थीं तो "मन्दसानः=सोमेन माद्यन्।" गर्भ में उस वामदेव को सोम का मद कहां से चढ़ गया था। यदि कोई कल्पना करे कि वामदेव को तो उस बात का ज्ञानमात्र हुआ था, तो हम कहेंगे इन्द्र को भी ज्ञान ही होना चाहिये। ऐसी दशा में पहले मन्त्र में 'अस्मि' अर्थात् 'मैं हूं कर्त्तावान्' वर्त्तमानकाल में कहना निरर्थक हो जायगा। कोई कुछ ही करे, पाश्चात्यों और सायण का अनुकरण करने वालों को यहां बड़ी आपत्ति है।

दयानन्द सरस्वती का अर्थ।

(१.) मैं (ईश्वर) मननशील हूं (व्यत्यय से) और सर्वप्रकाशक, मैं सब सृष्टि की कक्षा=परम्परा से युक्त, मन्त्रार्थविद् मेधावी हूं। मैं सरल विद्वान् से उत्पन्न किये गये यज्ञ को सिद्ध करता हूं। मैं सब का हितैषी, पूर्ण विद्वान् हूं, मुझे (योग से) देखो।

(२) मैं धार्मिक राजा को भूमि देता हूं। मैं दानशील मनुष्यों के लिये वृष्टि प्राप्त कराऊं। मैं प्राण प्राप्त कराऊं। कामना करते हुए विद्वान् लोग, बुद्धि के लिये मुझे प्राप्त होते हैं।

(३) मैं आनन्दस्वरूप प्रथम, मेघ के असंख्य प्रदेशों में उत्पन्न निम्नावें पदार्थों को साथ प्रेरणा करूं। सब में मिलने योग्य (जगत् में) जो प्रकाशदाता अतिथियों को प्राप्त (उसकी) रक्षा करूं (उसे जानो)।

यही एक अर्थ जो पूर्वोक्त सब आक्षेपों से रहित है। इस पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। इस के अनुसार इन मन्त्रों की रचना किसी ऋषि की नहीं कही जा सकती, प्रत्युत यह रचना तो ऋषियों के ऋषि, परमर्षि परमात्मा की अपनी है। (प्रश्न) गीता में भी तो इसी प्रकार की रचना है, क्या वह भी ईश्वर की ही है ?

(उत्तर) भगवद्गीता तो अभी कल की पुस्तक है। व्यास इस के रचयिता थे। इस नये काल की तो वैदिक काल से तुलना ही नहीं हो सकती । और श्रीकृष्ण ने परमात्मा को जान कर अपने में परमात्मा की ओर से अहंभाव धारण किया था।(प्रश्न) शतपथ ब्राह्मण में तो यही कहा है कि ऋषि वामदेव ने यह मन्त्र कहा था।

(उत्तर) शतपथ का सारा पाठ देखो—

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्योयो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम्॥१०॥ तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। **अहंमनुरभवꣳ सूर्यश्चेति** तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति । कां० १४। प्र० ३। ब्रा० १ ॥

"ब्रह्म ही इस सृष्टि के आरम्भ में था। वह अपने को सदा जानता हुआ, मैं ब्रह्म हूं। उस के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ। विद्वानों में से अविद्यानिद्रा से उठकर जो ब्रह्म को ऐसा जानता है वही उस का आनन्द पाता है। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से (जो अविद्यानिद्रा से जागता है, वह ब्रह्मसुख

को प्राप्त होता है) उस ही ब्रह्म को देखता हुआ, वामदेव ऋषि उसे प्राप्त हुआ। (वामदेव को यह ज्ञान भी प्राप्त हुआ कि) मैं मनु था, मैं सूर्य था। सो अब भी जिसे यह विज्ञान होवे कि मैं ब्रह्मस्थ हूं, वह इस सर्वज्ञान और सर्वसुख को पाता है।" यह है अर्थ ब्राह्मण की श्रुति का। यहां यही लिखा है कि वामदेव को ज्ञान हुआ कि मैं मनु था, मैं सूर्य था। वह पहले जन्मों में इन नामों से प्रसिद्ध हुआ होगा। यहां सारा मन्त्र नहीं दिया। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्रतीक प्रायः अपने ही वेद वा शाखा की धरी जाती है। अन्य वेदों के मन्त्र सारे उद्धृत होते हैं। सो यह मन्त्र ऋग्वेद का है, पर यहां शतपथ में इस की प्रतीकमात्र है। इसी से निश्चय होता है कि यद्यपि वामदेव ऋषि तो सारे मन्त्रों का था, पर अपने सम्बन्ध में उसे इतना ही ज्ञान उत्पन्न हुआ कि मैं पहले जन्मों में मनु और सूर्य था। यदि याज्ञवल्क्य का अभिप्राय सारे मन्त्रस्थ पदों से होता, तो वह सारा मन्त्र दे देता। तथाच यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वामदेव को ज्ञानमात्र हुआ, और वह वेद मन्त्र के कुछ शब्दों द्वारा प्रकट किया गया। वेद मन्त्रों के पदों को लेकर अनेक कार्य ऐसे ही चलाये जाते हैं। जैसे अब भी कोई कह देता है—"सत्यं ब्रवीमि" (ऋ० १०।११७।६) इति। मैं सत्य कहता हूं, इत्यादि। अहमेव स्वयमिदं वदामि (ऋ० १०। १२५।५) इति। मैं ही स्वयं यह कहता हूं। न ही वामदेव ने यह मन्त्र बनाया और न सायणानुसार उस ने इन्द्ररूप से स्तुति की।

(प्रश्न) यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अनादि वेद के अनुसार ही पहले दो जन्मों में उस का नाम हुआ।

(उत्तर) आश्चर्य नहीं है। नाम संसार में थोड़े से हैं। उन्हीं से सब काम चलाया जाता है। जहां २ आर्य्य सभ्यता है, वा थी वा होगी वहां ऐसे ही नाम होंगे। सो पिछले जन्मों में कभी कभी उस के यह नाम होगये इस में कोई आश्चर्य नहीं।

(प्रश्न) ऐतरेय आरण्यक में वामदेव के सम्बन्ध में क्या लिखा है ?

(उत्तर) "तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम (ऋ०४.२७।१) इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। स एवं विद्वान्............अमृतः समभवत्समभवत् ॥" २।५॥

"अर्थात् ऋषि=वेद वा परमात्मा से कहा गया। 'गर्भ में वर्त्तमान मैं इन पृथिव्यादिकों वा विद्वानों के सब जन्मों को जानता हूं। अनेकों लोहमयी नगरियां मेरी रक्षा करती हैं। तदनन्तर मैं श्येन=बाज पक्षी के वेग के समान (इस शरीर से) निकलूं।' गर्भ में ही वास करते हुए वामदेव ऐसे बोला। वह (वामदेव) ऐसे जानता हुआ इस शरीर के क्षय होने पर अमृत होगया।" यहां तो स्पष्ट पहले 'ऋषिणा' और अन्त में 'वामदेव एवमुवाच' कह कर भेद प्रकट कर दिया है कि वेद में ऐसा आया है। ऋषि का वेदार्थ सुप्रसिद्ध है। ऐसे प्रकरणों में जहां २ भी ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है वहां वेद वा परमात्मा के अभिप्राय से ही है। उसी वेदान्तर्गत

तथ्य को वामदेव ने जाना, और जान कर वह भी उसी मन्त्र के द्वारा अपना भाव प्रकट करता हुआ। अनेक लोगों का कहना है कि वामदेव को गर्भ में ही सब जन्ममरण सम्बन्धी रहस्यों का ज्ञान हो गया, * यह सम्भव हो वा न हो, परन्तु इतना तो सम्भव और सत्य है कि योगशक्ति द्वारा कोई सिद्धयोगी अपने चित्त को किसी गर्भस्थ जीव के चित्त का स्वामी बना के गर्भ की सारी दशाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

यदि यह वाक्य वामदेव का रचा होता तो आरण्यक पाठ में दो बार पूर्व-प्रदर्शित 'उक्तम्' और 'उवाच' क्रियाएं न आतीं। वहां तो स्पष्ट यही कहा है कि जैसे वेद में कहा है, वैसे ही वामदेव बोला। इसी भाव से इस और 'अहं मनुरभवम्' (ऋ० ४।२६।१) को ध्यान में रख के कृष्णद्वैपायन व्यास भगवान ने कहा था—

"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥" १।१।३०।

अर्थात् इन मन्त्रों में उपदेश परमात्मा की ही ओर से है। ये मन्त्र वामदेव के रचे नहीं हैं।

इस मन्त्र पर आ० बै० कीथ की टीका और टिप्पणी।

ऐतरेय आरण्यक का भाष्य करते हुए कीथ ने लिखा है—

---

* सायण ने अथर्व १८।३।१५ में भी यही लिखा है-"गर्भावस्थ एव सन् उत्पन्नतत्वज्ञानः स्वस्य सार्वात्म्यम अनुसंदधौ।"

A poet says (RV. IV, 27, 1), 'within the womb, I learned all the races of these gods. A hundred brazen forts restrained me, but like a hawk I escaped swiftly downward. Vamdeva lying in the womb thus declared. this. Knowing this...........he became immortal" इसी मन्त्र पर यह कीथ की टिप्पणी है—(तीन जन्मों के) प्रसंग में यह ऋचा बहुत अस्पष्ट है। शङ्कर, आनन्दतीर्थ और सायण ने कहा है कि इस मन्त्र में मुक्ति प्राप्ति से पूर्व के वामदेव के असंख्य जन्मों का वर्णन है। इस वाक्य से यह अर्थ नहीं निकल सकता। पूर्वापर प्रकरण से यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि वामदेव को आत्मा के तीन जन्मों का ज्ञान हुआ और वह अमृत हो गया। मुक्ति का सिद्धान्त तो इस उपनिषद् लिखने वाले को स्पष्ट ही अज्ञात है। यदि ज्ञात था, तो यह स्पष्ट किया जाता।"

यह है सम्मति कीथ की, जो इङ्गलैण्ड का उच्चकोटि का वैदिक विद्वान् समझा जाता है। वह यहां 'ऋषि' का 'पोइट' अर्थ करता है। वैदिक इण्डैक्स में भी उस ने यही अर्थ स्वीकार किया है। पर वह धात्वर्थ को जानता हुआ भी अपने अनार्ष संस्कार के कारण उसे छिपा रहा है। "सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे।" य० ३४। ५५। इस वेद वचन का वह क्या अर्थ करेगा ? उस के भाइयोंने बहुत यत्न किया, पर वह भी कुछ नहीं कर सके। सर्वोत्तम द्रष्टा होने से परमात्मा का नाम भी ऋषि है। इस का विशेष व्याख्यान मेरी बनाई ऋग्मन्त्रव्याख्या पृ० ४३, ४४ में देखो। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं आर-

ण्यक आदि ग्रन्थों में ऐसे स्थलों पर ऋषि शब्द का अर्थ परमात्मा वा वेद है।

आरण्यक के प्रकरण में यह ऋचा अस्पष्ट नहीं है। वहां यही कहा है कि आत्मा पुरुष (पिता) से निकल कर स्त्री (माता) के गर्भाशय में जाता है। यह आत्मा का प्रथम जन्म है। पुनः माता के गर्भ से बाहर आता है। यह दूसरा जन्म है। फिर सब कृत्य आदि करके आयु भोग कर चल देता है। चलते ही पुनः मनुष्य के वीर्य में भोजन आदि द्वारा प्रवेश करता है। वेद में परमात्मा ने शिक्षा दी है—"अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोपधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः।" ऋ० १० । १६ । ३. अर्थात् एक शरीर को त्याग कर यह आत्मा जल वा प्राणों में जाता है, अथवा ओषधियों में जाता है। वहां से पुनः पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। यही मानों इस आत्मा का तीसरा जन्म है। अपने और अन्य देवों=विद्वानों के इन्हीं सब जन्मों को वामदेव जानता गया।

वामदेव को इन सब बातों का ज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान योगद्वारा किसी गर्भस्थ बालक में चित्तस्थिति करके हो गया। सो वह मुक्त हुआ, हां मुक्त हुआ। मुक्ति और पुनर्जन्म का वर्णन वेद और उपनिषद् आदि शास्त्रों में बड़े स्थलों पर आया है। ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य और उनके अन्य ग्रन्थों में भी इन विषयों का वेदप्रमाणों द्वारा प्रतिपादन किया है। जब तक उनके खण्डन का कोई साहस न करे, उसे इस विषय में कुछ कहना ही न चाहिये।

और कीथ आदि पाश्चात्य लेखकों का ऐसा लेख कि 'मुक्ति का सिद्धान्त तो इस उपनिषद् लिखने वालों को स्पष्ट ही अज्ञात था' मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि वेद से लेकर अन्य सब आर्षशास्त्रों में अमृत होना मुक्ति का ही पर्याय है। "अमृतत्वाय गातुम्।" ऋ० १।७२।६ में स्पष्ट मोक्ष प्राप्ति के लिये कहा है। पुनश्च "शमीभिरमृतत्वमाशुः ॥" ऋ० ४।३३।४ शुभ कर्मों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जीवात्मा तो वैसे भी अमृत है, पर जन्ममरण के बन्धन=मर्त्यावस्था से पृथक् होकर ब्रह्म में स्वेच्छा पूर्वक विचरने को अमृतावस्था वा मोक्ष कहा है। मैं इन लोगों से नम्र निवेदन करता हूं कि वे ब्रह्मचर्य्य पूर्वक दो तीन वर्षों तक किसी सदुपदेष्टा अध्यात्मवादी गुरु के समीप वास करें, पुनः देखें कि उपनिषदों का क्या सिद्धान्त है।*

ज्ञान-सूक्तम्।

ऋग्वेद १०।७१ सूक्त का विषय ज्ञान है। ज्ञान कहां से आया, ज्ञान का मनुष्यजीवन पर क्या प्रभाव है, ज्ञान का क्या फल है, इत्यादि विषयों का इस सूक्त में अत्यन्त सुन्दर और रुचिकर वर्णन है। चिरकाल से आर्य्य ऋषि इस सूक्त की महिमा गायन करते आये हैं। आर्य्य विद्वानों ने भी इस के अर्थ

---

* वामदेव सम्बन्धी इन्हीं विषयों पर छन्दोग्यभाष्य में पृ० २८६—२६८ तक शिवशङ्करजीने भी समीक्षात्मक लेख लिखा है। मैं उस की बहुत बातों से विभिन्नमति रखता हूं। पाठक दोनों लेखों को पढ़ के स्वयं विचार करें।

का गौरव अनुभव किया है। वर्त्तमानकाल में इसका असाधारण महत्व बताना पण्डित राजाराम ही के भाग्य में आया है। उन्हों ने ही चार वर्ष हुए स्व-व्याख्या-सहित यह सूक्त मुझे सुनाया था। अब हम उसी ज्ञानसूक्त के कतिपय मन्त्र यहां धरेंगे।

इस सूक्त के विषय में सर्वाक्रमणी का वचन है—

"बृहस्पते बृहस्पतिर्ज्ञानं तुष्टाव नवमी जगती॥" स्वामी हरिप्रसाद ने न जाने किस 'प्रज्ञासागर' के संस्करण से वेद सर्वस्व के पृ० १.० पर सर्वानुक्रमणी का यह पाठ ऐसे उद्धृत किया है—"बृहस्पते, एकादश, बृहस्पतिर्ज्ञानं त्रिष्टुप्, नवमी जगती"। 'एकादश' मन्त्र-संख्या की तो पिछले सूक्त से अनुवृत्ति आती थी, तब भला इस को मूलपाठ में घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी? पुनः "बृहस्पतिर्ज्ञानं त्रिष्टुप्।" इस का तो अर्थ ही नहीं बनता। सर्वानुक्रमणी की परिभाषा है "(अनादेशे) त्रिष्टुप्छन्दः" ॥ १.२।६ अर्थात् 'जहां त्रिष्टुप् छन्द हो वहां कुछ नहीं कहा गया,' पुनः ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के विरुद्ध पाठ देने से तो यही ज्ञात होता है कि उद्धृत करने वाले ने ध्यान से ग्रन्थ पढ़ा ही नहीं। पूर्व सूक्त से यहां मन्त्रों की संख्या की अनुवृत्ति आई है। अर्थात् '(इस सूक्त में ११ मन्त्र हैं) प्रथम पद 'बृहस्पते' है। बृहस्पति नाम परमात्मा, और पश्चात् किसी देहधारी ऋषि ने इस सूक्त द्वारा ज्ञान-स्तुति की है। (अनुक्त

छन्द होने से) छन्द 'त्रिष्टुप्' समझना, पर नवम मन्त्र 'जगती' छन्द वाला है।'

प्रथम मन्त्र ।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

अर्थ—(बृहस्पते) हे वाणियों के स्वामिन् ईश्वर ! (यत्) जिस (प्रथमम्) आदिम (वाचः) वाणी के (अग्रम्) मूल को (नामधेयम्, दधानाः) नामादि रखते हुए [विद्वान्] (प्र, ऐरत) उच्चारण करते हैं। (यत्) जो (एषाम्) इन सब से (श्रेष्ठम्) उत्तम (यत्) जो (अरिप्रम्) दोषरहित (आसीत्) है, (तत्) वह (एषाम्) इन [ऋषियों] की (गुहा) बुद्धि में (निहितम्) छिपी रहती है। (प्रेणा) [वही ईश्वर के साथ] प्रेम से (आविः) प्रकाशित होती है।

इस प्रथम मन्त्र में ज्ञान की प्रशंसा की गई है। ज्ञान यहां वाक्=ईश्वरीय वाक् का पर्याय है। अन्यत्र यजुर्वेद में परमात्मा कहता है "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।" यजुः० २६।२ 'जैसे इस कल्याणी वाणी को मैं बोलता हूं, सब जनों के लिये।' जब २ मनुष्यों को निर्मल और गम्भीर ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, तब २ उन्हों ने संसारस्थ अनेक पदार्थों

का नामकरण करना होता है, तभी २ वे इस ज्ञान को प्राप्त करते हैं। आदि में परमात्मा शब्दार्थसम्बन्धरूप से इस वाणी को ऋषियों के अन्दर प्रकाशित करता है और पीछे उसी का अर्थज्ञान कराता रहता है। अब मन्त्रस्थ पदों को देखो। इस वाणी के यह २ गुण कहे हैं।

(१) 'प्रथमम्' आदिम वाणी है।

(२) 'वाचः, अग्रम्' आज जितनी मानव वाणियां संसार में हैं, उन सब का मूल है। वेदवाणी ही से सब भाषाएं निकली हैं और वेद-वाणी का भी मूल 'ओम्' है।

(३) आदि सृष्टि में जब २ पदार्थों के नाम रखने की आवश्यकता होती है, तब यही वाणी सहायकारी होती है।

(४) 'श्रेष्ठम्' जो सर्वश्रेष्ठ वाणी है। बड़ी विस्तृत, बड़ी विशाल, मानवबुद्धि में आने वाले व्याकरण के संकुचित नियमों से कहीं परे, दिव्य रूपों में उपस्थित है।

(५) 'अरिप्रम्' दोषरहित है। सब संसार के लिये एक सी। किसी देश विशेष की भाषा नहीं।

(६) 'गुहा, निहितम्' वह गुहा, ऋषियों की बुद्धियों में थी।

(७) 'प्रेणा, आविः' अनेक जन्म जन्मान्तरों में जो परमात्मा के साथ प्रेम करते आये हैं उन के अन्दर से प्रकाशित होती है। उनकी अपनी बनाई नहीं।

वेदवाणी का कितना दिव्य वर्णन है? यह आन्तिरक साची है, जिसकी कसौटी पर वेद मानव रचना से परे चला जाता है।* तीसरा मन्त्र इस बात को और भी व्यक्त करता है-

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुःपुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि संनवन्ते। ऋ० १०।७१।३।

अर्थ-(यज्ञेन) परमात्मा की कृपा से (वाचः) वाणी की (पदवीयम्) प्राप्ति की योग्यता को (आयन) [जब मनुष्य] प्राप्त होते हैं [अर्थात् मानवजन्म धारण करके विचार के योग्य होते हैं] (ताम्) [तब] उस वाणी को (अनु, अविन्दन्) अनुकूलता से प्राप्त करते हैं, [कहां से? उत्तर,] (ऋषिषु प्रविष्टाम्) ऋषियों=वेदार्थवेत्ताओं में प्रविष्ट हुई हुई को। (ताम्, आभृत्य) उस वाणी को लेकर (वि, अदधुः) फैलाते हैं (पुरुत्रा) बहुत=सब स्थलों में, (ताम्) उस वाणी को (सप्त, रेभाः) सात स्तोता(सम, नवन्ते) स्तुति करते हैं।

इस मन्त्र में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—(१) 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी को उन्हों ने

---

* इस मन्त्र पर ऐतरेय आरण्यक १।३।३ में विचार किया गया है। पाठक उसे भी देखलें।

पाया। वह ऋषियों की अपनी वाणी न थी, प्रत्युत कहीं से उन में आगई थी। तब भला उस वाणी में होने वाले वेद मनुष्य-रचित कैसे हो सकते हैं ?

(२) जब २ ऋषि उत्पन्न होते हैं, तब २ वेदार्थ खुलता है, और वह सब मनुष्यों में फैला दिया जाता है। आदि सृष्टि से यह होता आया है। अब भी जब कि संसार में वेद का सत्यार्थ लुप्त हो चुका था, दयानन्द ऋषि ने आकर पुनः सत्यार्थ के फैलाने की चेष्टा की है। उसी महात्मा के परिश्रम के कारण मेरे जैसे साधारण व्यक्ति भी इस मार्ग में लग रहे हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि स्वल्प काल में ही पूर्व और पश्चिम के पाठक जो सम्प्रति वेद का अनर्थ कर रहे हैं, सत्यार्थ को लेंगे और वेद पुनः सर्व स्थलों में फैला दिया जायगा।

यह है वेद की एक दो आन्तरिक साक्षियां, जिन के सहारे पर कहा जा सकता है कि वेद की रचना मानव मन, कर्म और वाणी से परे है, हां बहुत परे है।

